दलित विमर्श : संदर्भ गाँधी, अंबेदकर

दलित विमर्श : संदर्भ गाँधी, अंबेदकर

(परिवर्धित एवं संवर्धित)

गिरिराज किशोर

GOLDEN JUBILEE SERIES

भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान

राष्ट्रपति निवास, शिमला

प्रथम संस्करण 2003
द्वितीय संस्करण 2016

सर्वाधिकार सुरक्षित

© भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला 2003

प्रकाशकः
सचिव,
भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान
राष्ट्रपति निवास
शिमला 171005

मुद्रकः
प्रिंट परफैक्ट, नई दिल्ली

'कुजात' गाँधीवादी पर सच्चे मानववादी डॉ. लोहिया
एवं
गाँधी जी के साथी आचार्य जुगल किशोर की स्मृति में

अनुक्रम

पूर्वाख्यान–1 ix

पूर्वाख्यान–2 xiii

1. अस्पृश्यता और परंपरा 1

2. अस्पृश्यता एवं साहित्य–विमर्श 25

3. गाँधी : हृदय परिवर्तन और दक्षिण अफ्रीकी पाठ 51

4. अस्पृश्यता और गाँधी का अन्तः संघर्ष 69

5. डॉ. अंबेदकर और अस्पृश्यता 96

6. . . . 'हिंदू' गाँधी : एक 115

7. . . . 'हिंदू' गाँधी : दो 135

परिशिष्ट

8. 'हिंद स्वराजः विखंडन और संरचना 163

9. गाँधी का 'गाँधी' बनना 179

10. अन्त में... 190

पूर्वाख्यान 1

जातीय हिन्दू आज़ादी की लड़ाई और अस्पृश्यता के खिलाफ़ संघर्ष में गाँधी के साथ थे परन्तु अछूतोद्धार के लिए संघर्ष के कारण उन्हें धर्मद्रोही मानते थे। अछूतोद्धार का संबंध धर्म से और अस्पृश्यता का ताल्लुक सभी गैर–हिंदू धर्मों से है। डॉ. अंबेदकर और गाँधी जी दोनों ने ही अपनी–अपनी तरह माना है कि हिंदू अपने हिंदू भाइयों में से एक वर्ग को तो अछूत मानता ही था, गैर–हिंदुओं को जो दूसरे धर्मों से आते थे खान–पान की दृष्टि से अस्पृश्यों की श्रेणी में रखता था। वे छुए जा सकते थे। पर हम–प्याला, हम–निवाला नहीं हो सकते थे। यानी सांप्रदायिकता के सवाल पर हिंदू समाज का बहुत बड़ा वर्ग गाँधी जी के साथ था। यद्यपि गाँधी जी वर्तमान दलित संघर्ष की दृष्टि से 'खलनायक' के रूप में देखे जाते हैं, लेकिन उसका कारण मैं दलित वर्ग को या उनके नायकत्व को नहीं मानता। उसका कारण ऐतिहासिकता है यानी उस वर्ग के पास अपना प्रतिभाशाली और जुझारू सामाजिक और धार्मिक नेतृत्व का न होना। दूसरे वर्ग से आने वाले किसी भी ऐसे नेतृत्व को अस्वीकार करना एक अनिवार्यता है जो उसके मॉडल में फिट नहीं बैठता या उससे किसी भी रूप में टकरा सकता हो।

गाँधी अगर अछूतोद्धार की लड़ाई लड़ रहे थे तो दलितों के साथ–साथ वह लड़ाई देश की स्वतंत्रता की लड़ाई भी थी। दोनों एक–दूसरे के साथ गझी–बझी थीं। इतना बड़ा जनसमुदाय अगर, अपने ही वर्गविशेष का, केवल धार्मिक कारण से सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक रूप में गुलाम है तो स्वतंत्रता का क्या मतलब? अगर इन मानसिक और धार्मिक सीमाओं को स्वयं तोड़कर बाहर न आया जाय

तो वर्गगत मुक्ति कैसे हो। गाँधी जी के लिए दोनों लड़ाइयाँ एक साथ लड़ना अनिवार्यता थी और बाध्यता भी थी। हो सकता है इन दोनों लड़ाइयों को अलग–अलग लड़ने का मतलब होता किसी भी लड़ाई को अंजाम तक न पहुँचा पाना। ब्रिटिश हुकूमत कहती पहले तय कर लो क्या चाहते हो। कानून बनाकर अस्पृश्यता समाप्त करना या देश को आज़ाद करना। कानून वे पहले भी बनाकर भारत के नवजागरणवादियों को खुश कर चुके थे। न कानून से बाल–विवाह रुका था और न सती–प्रथा पर कोई विशेष प्रभाव पड़ा था। गाँधी 'एक छोड़ दूजे को धावे' को चरितार्थ करने के बारे में अपने नज़रिये से देखते थे। जैसे कि वे थे, अपने निश्चय पर दृढ़ थे। अंग्रेज़ों की तरह ही वह जातीय हिंदुओं को भी कोई ऐसा अवसर नहीं देना चाहते थे कि वे कोई बहाना बनाकर परिवर्तन की प्रक्रिया में बाधा डालें। हम अपने इतिहास पर नजर डालें तो शायद स्थिति अधिक स्पष्ट हो सके। राम मनोहर लोहिया की पुस्तक हिंदू बनाम हिंदू में लिखा है : ''तीन सौ साल पहले शिवाजी को यह मानना पड़ा था कि उनका वंश हमेशा ब्राह्मणों को ही मंत्री बनाएगा ताकि हिंदू रीतियों के अनुसार उनका राजतिलक हो सके। करीब दो सौ वर्ष पहले पानीपत की आखरी लड़ाई में, जिसके फलस्वरूप हिंदुस्तान पर अंग्रेज़ों का राज्य कायम हुआ, एक हिंदू सरदार दूसरे सरदार से इसलिए लड़ गया कि वह अपने वर्ण के अनुसार ऊँची जमीन पर तंबू लगाना चाहता था। करीब पंद्रह साल पहले एक हिंदू ने हिंदुत्व की रक्षा करने की इच्छा से महात्मा गाँधी पर बम फेंका था, क्योंकि उस समय वे छुआछूत का नाश करना चाहते थे''।

इस ग्रंथ में सभी परिच्छेद निबंध के रूप में लिखे गए हैं। संस्थान का आग्रह था कि रचनात्मक लेखक को रचनात्मक विधा का ही उपयोग करना चाहिए। भले ही उसके लिए लंबा–चौड़ा अनुसंधान करना पड़े। जब मुझे यह लिखकर दिया गया तो मैं इस विषय पर लगभग एक वर्ष तक अपनी तरह से काम कर चुका था। ख़ैर ये निबंध अलग–अलग तो हैं पर उनमें विषयगत एकसूत्रता बनाए रखने की कोशिश की गई है। अच्छा तो यही हो लेखकों को परिसर–लेखक के रूप में आमंत्रित किया जाय। तभी रचनात्मकता

का सही उपयोग होगा। इस बात का अनुभव संस्थान में रहकर ही हुआ।

कुछ परिच्छेदों में पुनरावृत्ति है। एक तो विषय ऐसा, दूसरे, हो सकता है बहुत से खाँटी विद्वान एक–आध चेप्टर पढ़कर छोड़ दें, उस हालत में गाँधी जी के बारे में मेरी कही कोई बात शायद उनके दिमाग में रहे। वैसे भी मैं प्रोफ़ेशनल अनुसंधानकर्त्ता नहीं हूँ। इसलिए उस तरह व्यावसायिक प्रिसीजन की आशा करना मेरे साथ ज़्यादती होगी। हालांकि उपन्यास लेखन से पूर्व भी मैं जाँच–पड़ताल करने की कोशिश करता हूँ। वह सामग्री इकट्ठा करने के अंतर्गत आता है। लोक से लेकर जुगलबंदी, परिशिष्ट, यथा प्रस्तावित, ढाई घर आदि उपन्यासों में मैंने इसी पद्धति का प्रयोग किया है। फिर भी पुनरावृत्ति, अगर है, तो मैं क्षमाप्रार्थी हूँ।

भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान हिमालय के एक शिखर पर स्थित है। भारत के दूसरे राष्ट्रपति डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन की उदार कल्पनाशीलता का प्रतिफल है। इसको बनाए रखने, ज्ञान, रचनात्मकता तथा विचार के क्षेत्र में निरंतर विकसित करने के लिए भी उसी स्तर के सोच और कल्पनाशीलता की आवश्यकता है। इस तरह का वातावरण अब बहुत कम शिक्षा संस्थानों तथा विश्वविद्यालयों में बचा है। यही प्रार्थना है कि संस्थान की रचनात्मकता और चिंतन के क्षेत्र में पहली–सी प्रतिष्ठा हो। अन्य शिक्षा संस्थाओं की तरह जोड़–तोड़ और स्वार्थपरक राजनीति से बचा रहे।

प्रो. गोविन्द चन्द्र पांडे, प्रो. मृणाल मीरी से जो स्नेह और निर्देशन मिला उसके लिए मैं उनका हृदय से आभारी हूँ। प्रो. वी.सी. श्रीवास्तव, निदेशक के प्रति आभार प्रकट करते हुए, संस्थान के सचिव श्री पद्मवीर सिंह, उप–सचिव, संपदा विभाग, शैक्षिक विभाग, जन संपर्क विभाग, भंडार विभाग, पुस्तकालयाध्यक्ष और उनके सहयोगी तथा सभी कार्यालय–सहयोगियों के आत्मीय व्यवहार के प्रति धन्यवाद ज्ञापन। सभी अध्येता बंधुओं का आत्मीय स्मरण।

प्रो. वेलेरियन रोडरिग्स से इस प्रोजैक्ट में समय–समय पर जो सलाह मिलती रही उसके लिए मैं हृदय से आभारी हूँ। मित्रवर डॉ. प्रेम सिंह ने पांडुलिपि पढ़ी, कुछ सुझाव दिए और तैयार करने

में सहायता की। शायद आभार शब्द नाकाफी हो। पंकज राणा ने टाइपिंग करके सहयोग दिया। अंत में मैं शिमला के साहित्यकार मित्रों का स्मरण करना चाहता हूँ जिन्होंने मेरे और पत्नी के ढाई वर्ष के प्रवास के दौरान अपना भरपूर स्नेह दिया।

संस्थान के सुनहरे भविष्य के लिए शुभाशंसा सहित।

गिरिराज किशोर

पूर्वाख्यान 2

'दलित विमर्श–संदर्भ गाँधी' (और अंबेदकर), हालांकि डॉ. अंबेदकर का नाम पहले संस्करण में न होना मेरी भूल थी। कोई भी दलित विमर्श न बिना गाँधी के पूरा हो सकता हो सकता है और न डॉ. अंबेदकर के। इस संस्करण में मैं यह भूल सुधार कर रहा हूँ।

संदर्भित पुस्तक मैंने भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, राष्ट्रपति निवास, शिमला में अपनी फैलोशिप के दौरान 1999–2002 के दौरान अपने शोध–कर्म के फलस्वरूप लिखी थी। इसका पहला संस्करण 2003 में संस्थान द्वारा प्रकाशित किया गया था। लगभग 12 वर्ष के बाद प्रोफेसर चेतन सिंह, संस्थान के विद्वान निदेशक के सौजन्य से दूसरा संशोधित संस्करण प्रकाशित हो रहा है। मैं उनका हृदय से आभारी हूँ।

श्री प्रेमचंद, पुस्तकालयाध्यक्ष ने 24 अप्रैल 2015 के पत्र द्वारा सूचित किया यदि मैं कुछ नया जोड़ना चाहता हूँ तो सामग्री उपलब्ध करा दूँ। मैंने यह आवश्यक समझा कि एक बार पुनः पढ़ लूँ। मेरे पास अपनी एक प्रति थी उसको आद्यांत पढ़ा, उसका लाभ हुआ। जहाँ जहाँ लगा, वहाँ वहाँ अपनी प्रति में संक्षिप्त संशोधन कर दिए, जो अंश हटाना था वह हटा भी दिया। 'हिंद स्वराज : विखंडन और संरचना' परिच्छेद तीसरे स्थान पर था, प्रासंगिकता की दृष्टि से मुझे लगा कि उसका स्थान आठवें स्थान पर है। हिंद स्वराज में गाँधी जी के अनुभव और चिंतन का सार है। नए संदर्भों में उन सब बातों पर पुनर्विचार किया जा सकता है। जिस पाश्चात्य सभ्यता का गाँधी ने हिंद स्वराज में विश्लेषण किया है उसकी पुनर्स्थापना कितनी लाभकारी होगी और कितनी नहीं। संसद प्रणाली का विवेचन

भी चौंकाने वाला है। हिंद स्वराज का संबंध टेक्नालॉजी और ग्रामीण स्वायत्तता से भी जुड़ा है। बदले हुए वातावरण में ये सवाल बहुत महत्त्वपूर्ण हो गए है। दलित और जन का 'हिंद स्वराज' की स्थापनाओं से गहरा नाता है।

पुनः पढ़ने का एक लाभ और हुआ कि दलित विमर्श में जितना योगदान गाँधी जी का है, पुस्तक में डॉ. अंबेदकर भी उतनी ही शिद्दत के साथ उपस्थित हैं। मैं यह भी मानता हूँ कि दलित प्रश्न पर गाँधी ने, संवेदना के स्तर पर, डॉ. अंबेदकर से भी बहुत कुछ जाना और सीखा है। पुस्तक के शीर्षक में उनका नाम होना अनिवार्य था।

यहाँ एक बात का स्पष्टीकरण देना आवश्यक है। बचपन से मैं अंबेडकर शब्द से परिचित न होकर अंबेदकर से ही परिचित हूँ। एक बार मुझे डॉ. अंबेदकर से मिलने का अवसर भी मिला था। तब मैं किशोर था। अपने एक संबंधी के साथ मिलने गया था। वे भी संविधान परिषद के सदस्य थे। मैंने उनसे सवाल कर दिया था, बाद में मुझे डाँट भी पड़ी थी। मैंने पूछा 'क्या आप बापू से नाराज हैं, वे आपको पसंद नहीं।' डॉ. साहब ने नपा तुला जवाब दिया था असहमत होना नाराजगी नहीं होती। अंग्रेजी में कहा... 'लाइक्स मी'। पुरानी बात है स्मृति से लिख रहा हूँ। दूसरी बात का मतलब समझ नहीं सका था। हाँ, तो मैं बता रहा था एक मित्र ने मुझे डॉ. अंबेदकर लिखने पर फटकारा था 'आप उनका नाम बिगाड़ते हो, उनका नाम बाबा साहब भीमराव अंबेडकर है न कि अंबेदकर।' मैं डॉ. अंबेडकर लिखने की कोशिश करता हूँ। पर भाषाई दृष्टि से मुझे अंबेदकर ठीक लगता है। अपनापन भी संगीतमय भी।

मैं अंत में एक छोटा सा उपसंहार 'अंत में..' शीर्षक से भी जोड़ रहा हूँ। पहले संस्करणों को मेरी अनुपस्थिती में डॉ. प्रेम सिंह और श्री अशोक शर्मा ने संवारा था। दूसरे संस्करण को संवारने में डॉ. दया दिक्षित ने सहायता की। मैं उनका हृदय से आभारी हूँ।

संस्थान और संस्थान के निदेशक प्रोफेसर चेतन सिंह का पुनः आभार।

10 मई, 2016 गिरिराज किशोर
कानपुर

अस्पृश्यता और परंपरा

नीला क्राम कुक एक यूनानी रंगकर्मी पिता तथा अमेरिकन माँ की बेटी थी। वह चौथे दशक में भारत आई थी। उसने कश्मीर की वादियों में हिन्दू धर्म ग्रहण किया। वहाँ से माउंट आबू आदि स्थानों की यात्राएं करते हुए बेंगलूर पहुँची। मैसूर में राज परिवार और वहाँ के दीवान मि. मिर्जा से उसके पारिवारिक संबन्ध बन गये थे। बाद में वह सब कुछ त्याग कर गाँधी के प्रभाव में बेंगलूर की सड़कों की सफाई करती थी और हरिजन यानी दलित बस्तियों में समय बिताती थी। उसका एक बेटा था, उसे गवर्नेस की देखरेख में रख दिया था। बाद में गाँधी के कहने पर अपने रेशमी बाल कटवाकर, बिन पैसे, नंगे पांव सड़कों पर घूमी। अपनी आत्मकथा में नीला क्राम ने लिखा है–जब बर्नड शॉ से पूछा गया कि भारत में प्रचलित अस्पृश्यता के बारे में आपकी क्या राय है? तो उन्होंने कहा 'ब्रिटिश समाज की अस्पृश्यता के मुकाबले वह कुछ नहीं'।[1]

बर्नड शॉ के इस कथन के संदर्भ में एक बात कही जा सकती है कि ब्रिटेन या अमेरिका में अस्पृश्यता का रूप भारत से बहुत भिन्न है। वह मानसिक पूर्वाग्रह का प्रतिफल ज्यादा है बनिस्बत किसी धार्मिक या परंपरागत मान्यता या रूढ़ि के। भारत में अस्पृश्यता का आधार मूलतः धार्मिक मान्यतायें हैं। धर्म के सर्वोपरि होने के कारण समाजशास्त्रीय दृष्टि से उसका विश्लेषण करने की ज़रूरत नहीं समझी गई। बढ़ते–बढ़ते यह प्रवृत्ति शुचिता, पाप–पुण्य और अन्य रूढ़िगत मान्यताओं का अभिन्न अंग बन गई। कोई भी सामाजिक मान्यता या व्यवहार जब कर्मकांड का हिस्सा बन जाता है तो वह कठोर से कठोर मानव–विरोधी कानून से भी ज्यादा भय की

व्युत्पत्ति करता है और धीरे–धीरे बन्दिशें इतनी कड़ी कर देता है कि उसके बारे में पुनर्विचार या परिवर्तन की बात सोचना भी संभव नहीं होता। या कहिये ऐसा करना, यहाँ तक कि सोचना तक एक दंडनीय अपराध सरीखा हो जाता है। चाहे वह कोई भी धर्म हो। उसके लिए विकट साहस की जरूरत होती है। गांधी के प्रभाव के कारण नीला क्राम में कुछ–कुछ इसी तरह का साहस नज़र आता है। उसने धर्म छोड़ा, वैभव छोड़ा, और एक दूसरे देश के दलितवर्ग की मुक्ति के लिए गाँधी के प्रभाव में रहकर संघर्ष किया। भारतीय समाज में यानी हिन्दुओं में अस्पृश्यता धर्म का एक अविभाज्य अंग बन गया था। बाद में इसका प्रभाव दूसरे धर्मों पर भी पड़ा। यह कहना मुश्किल है कि आर्य धर्म या वैदिक धर्म जो बाद में हिन्दू धर्म हुआ, पिछली तीन–चार सहस्त्राब्दियों में कितना अक्षुण्ण रहा, या उस पर कितने प्रभाव पड़े। उन प्रभावों का असर सकारात्मक हुआ या नकारात्मक। यह गहरी छान–बीन और गवेषणा का विषय है। इस विषय पर काम हुआ भी है तो सीमाओं के अन्दर रहकर। लेकिन यह सब जांचना यहाँ हमारा उद्देश्य नहीं। हमारा सीमित उद्देश्य है। अस्पृश्यता यानी दलित–विमर्श के बारे में बात करना। इस सम्पूर्ण पृष्ठभूमि के संदर्भ में यथासामर्थ्य उसे समझना। कितना समझा गया है, या समझा जा सकता है यह भी कहना संभव नहीं। सामान्यतः इस पूरी पृष्ठभूमि के संदर्भ में ऋग्वेद से लेकर स्मृतियों तक संस्कृत वाङ्गमय का अध्ययन करना जरूरी है। यह सामान्य रूप से कठिन काम है। जिन्होंने अध्ययन किया है और निष्कर्ष निकाले हैं उन विद्वानों पर विश्वास करके सामान्य समझदारी बनाई जा सकती है। मैंने अपनी सामर्थ्य को ध्यान में रखते हुए केवल ऐसे विद्वानों का सहारा लिया है। इसलिए यह अहंकार पालना मेरे लिए संभव नहीं कि जो मैं कह या लिख रहा हूँ वह मौलिक है तथा शतप्रतिशत सही है। एक रचनात्मक लेखक के नाते समाज के इस चिन्तनीय पक्ष को समझने की कोशिश करना रचनात्मकता का अविभाज्य अंग है, ऐसा मैं मानता हूँ।

जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है, अमेरिका तथा यूरोपीय देशों की अस्पृश्यता मानसिक दुराग्रह और रंगभेद का नतीजा है। आर्थिक

भी है। यह रंगभेदी अस्पृश्यता एक विकृत नस्लवाद से जन्मी है। इसकी जड़ें खाल से ज्यादा गहरी नहीं। जैसा औपनिवेशिक प्रवृत्ति के विकास के साथ ही हो सकता है, इस से नस्लवादी दुराव का भी जन्म हुआ हो। उपनिवेशवाद पूरे समाज को श्रेष्ठता और निम्नता की सीमाओं में बाँध देता है। विजेता विजितों के बीच शासक और शासित का रिश्ता मात्र था। यह रिश्ता एक दूरी बनाता है। श्रेष्ठता और निम्नता के रंगों को गाढ़ा करता है। जहाँ तक अमेरिका का प्रश्न है, नये अमेरिका का इतिहास बालिश्त भर का है, समृद्धि भले ही चाहे जितनी लंबी–चौड़ी हो। यूनान, फ्रांस, हॉलैंड, पुर्तगाल आदि देशों का उपनिवेशवाद राजनीतिक और सामंती था। अमेरिका का उपनिवेशवाद भले ही शुरू में उपरोक्त देशों की तरह सामंती रहा हो पर अब सांस्कृतिक और आर्थिक आवरण ओढ़कर सम्पूर्ण पृथ्वी पर निर्बाध विचरण कर रहा है। अमेरिकी उपनिवेशवाद में प्रच्छन्न रूप से राजनीतिक उपनिवेशवाद का गहरा सम्मिश्रण है। इस तरह के उपनिवेशवाद में समानता का अहसास भले ही निहित हो परन्तु वह भिन्न–भिन्न प्रकार से देशों और संस्कृतियों को दासत्व में बाँधता है। यह बात तभी पता चलती है जब दासता की जंज़ीर इतनी कस जाती है कि इसे तोड़कर बाहर निकलना कठिन नज़र आने लगता है। मध्य एशिया से आने वाले आक्रमणकारी देशों को जीतकर लौट गये। जो रह गये उन्होंने मूल निवासियों को अधीनता ही दी। अमेरिका भी इस मानसिकता से अलग नहीं था। मूलतः तो वे अंग्रेज़ थे। उन्होंने अन्य देशों की तरह वहाँ भी मूल निवासियों का उन्मूलन ही किया। स्थानीय लोगों को पालतू बनाकर काम लेना उनके लिए उसी तरह मुश्किल पड़ रहा था जैसे दक्षिण अफ्रीका के गोरों के लिए था।

भारत की स्थिति थोड़ी भिन्न है। यह देश आक्रमणकारियों के लिए शुरू से ही एक हरा–भरा चरागाह रहा है। विद्वानों का मत है कि अस्पृश्यता की नींव उसी समय पड़ गई थी, जब आर्यों ने भारत (अगर वे बाहर से आये) के मूलनिवासियों पर आक्रमण करके उनका उन्मूलन या विच्छेदन किया। मैं, क्षमा करें, इतिहासकार नहीं हूँ, हालाँकि थोड़ा–बहुत इतिहास हर एक के खून में होता है। कुछ

इसी तरह की समानता अमेरिका पर आक्रमण करने वाले गोरों और वहाँ के मूल निवासियों के उन्मूलन की प्रक्रिया के बीच भी दिखाई पड़ती है। आर्य भी यहाँ के निवासियों से हर दृष्टि से भिन्न थे। सामरिक दृष्टि से उनके हथियार भी ज़्यादा आधुनिक थे। आर्यों को भी अपने रंग, सभ्यता, भाषा और धर्म का गुमान था। अनार्यों को वे 'अमानुष'[2] मानते थे। उनका श्यामवर्ण बताया गया है और 'अनासा' यानी चपटी नाक वाला कहा गया है। वे लिंग की पूजा करते थे। धीमे बोलते थे। उन्हें दास की श्रेणी में रखा गया था। कभी–कभी लगता है आधुनिक समय में कुछ–कुछ ऐसी ही स्थिति अमेरिका में 'रेड इंडियनों' की रही होगी। इस संदर्भ में एक पीटर मांटेग के 'इकालोजिस्ट', दिसम्बर 1999 में छपे लेख का उद्धरण उल्लेखनीय है, ''एक स्पेनी मिशनरी बार्तोलोम डीला–कसास ने आँखों देखा वर्णन लिखा है कि कैसे स्पेनी लोग स्थानीय इंडियनों पर कहर बरपा रहे थे।...एक दिन तो कसास की आँखों के सामने स्पेनी लोगों ने उन लोगों को टुकड़े–टुकड़े कर दिया ... या बलात्कार किया। स्पेनियों ने दूर भागते बच्चों के पाँव काट लिए। उन्होंने लोगों के मुँह में खौलता साबुन डालकर मार डाला . . . .इंडियन लोगों पर सुअर की तरह टूट पड़ते थे. . . .वे नवजात शिशुओं को कुत्ते के भोजन की तरह इस्तेमाल करते।''[3]

आर्य ईसा से 1500 वर्ष पूर्व भारत में आये थे (हालाँकि यह एक विवादास्पद प्रश्न है क्योंकि कुछ आधुनिक विद्वानों के अनुसार आर्य बाहर से नहीं आये, वे इसी भूमि पर जन्मे थे। अगर वे नहीं भी आये तो क्या उन्होंने अपने ही लोगों का दमन किया? किया तो क्यों किया?) और उन्होंने उत्तर–पश्चिम भारत के बहुत बड़े भूखण्ड पर कब्ज़ा कर लिया था। अतः उन्हें खेतों में काम करने वाले श्रमिकों की आवश्यकता थी। 'दास' यानी मूल निवासी सहज उपलब्ध थे। दासों को जबरदस्ती घेरा गया और खेतों में काम करने के लिए मजबूर किया गया। ऋग्वेद में उल्लेख है कि इन्द्र ने एक सौ दस दासों को पकड़ा (ऋ. 1981 : 2.13.9)।[4] यही स्थिति उन्नीसवीं शताब्दी में दक्षिण अफ्रीका के गोरे खेतिहरों की थी। वहाँ के मूल निवासियों से जब काम नहीं चला तो भारत से 'कुली' (इन्डेंचर्ड लेबर) आयात

किये गये। दक्षिण अफ्रीका के मूल निवासी इतने स्वतंत्र थे कि वे उन्हें बँधुआ बनाकर काम लेने में असमर्थ रहे। जो भारतीय गये उन्हें 'दासों' की तरह रखा गया। भारतीय मज़दूर उससे पूर्व मारिशस, दक्षिण अमेरिका आदि देशों को भारत सरकार के सहयोग द्वारा निर्यात किये जा चुके थे।

अनेक संदर्भ देखने से पता चलता है कि आर्यों का अनार्यों के साथ शताब्दियों तक संघर्ष चला (*गौतम धर्मसूत्र* 1966 : 4. 15. 23 तथा 4.20)[5]। अनार्य वीर थे पर उनकी सामरिक शक्ति अपेक्षाकृत सीमित थी। आर्य बहुत आत्ममुग्ध और गर्वीले थे। लगता है आर्यों द्वारा अनार्यों के विच्छेदन या उन्मूलन को मौखिक रूप से प्रचलित लोक वार्ता को ही लोकधर्म का रूप देकर उसका अनुकरण किया। कहीं वेद उसी का अपौरुषेय रूप तो नहीं, यह कहना मेरे जैसे व्यक्ति के लिए न उचित है और न संभव। आधुनिक सामरिक प्रौद्योगिकी की सहायता से मूल निवासियों को छिन्न–भिन्न कर दिये जाने से अनार्य दो वर्गों में विभाजित हो गये थे। एक वर्ग तो उन दूरस्थ स्थानों को पलायन कर गया जहाँ आर्य पहुँच नहीं पाये थे। जैसे पहाड़, जंगल आदि। इससे यह भी प्रतीत होता है कि आर्यों ने आरंभ में नगरों या पुरों को ही अपना निशाना बनाया था। उनके आसपास की भूमि पर ही उनका सबसे पहले दावा हुआ। दूसरे वर्ग ने अधीनता स्वीकार कर ली। ऋग्वेद में कहा गया है कि 'दास' आर्य की इच्छा अनुसार चलने के लिए बाध्य थे। एक आर्य अपने 'दास' को अपनी इच्छानुसार चलाता था (*ऋ.* 2.13.9)। आर्य उन्हें एक जगह से दूसरी जगह दौड़ाते थे। अनार्य आर्यों के साथ 'दास' बनकर ही रह सकते थे। स्वभावतः पहला वर्ग जन–जातियों की श्रेणी में आ गया। मध्य प्रदेश आदि प्रदेशों में जो गुफायें मिली हैं और जिनकी दीवारों पर भांति–भांति के भित्ति चित्र उकेरे हुए हैं उनका सम्बन्ध इसी जनजाति से बताया जाता है। वे इतनी प्राचीन हैं कि उनके काल–निर्धारण की प्रक्रिया चल रही है। विजेता वर्ग ने अनार्यों के रंग, कर्म, पद्धति और सबसे बड़ी घटना, पराजय के कारण उन्हें नीच मान लिया। बाद में यही वर्ग परिया, मलेच्छ, चांडाल, पंचम, अन्त्यज, अतिशूद्र आदि विशेषणों से नवाजा गया।

यह विचित्र संयोग है कि हमारे ग्रन्थों में सबसे अधिक स्तुति और अधिकारों की विवेचना तो ब्राह्मण वर्ग की है, लगभग उसी परिमाण में अनार्यों के रंग, उनके दुर्गुणों, अपवित्रता, अनैतिक कर्मों आदि की भर्त्सना भी है। उर्दू शब्द का प्रयोग किया जाये तो इस वर्ग का 'तबर्रा' पढ़ा गया है। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि आर्य, अनार्यों की जीवनीशक्ति, संघर्षशीलता, बल, पराक्रम आदि से इतने त्रस्त थे कि उन्होंने अपने तत्कालीन आधुनिक आयुधों द्वारा भले ही उनको परास्त किया हो पर बौद्धिक कौशल का प्रयोग करके भी वे उन्हें धराशायी कर देने के लिए हर तरह प्रयत्नशील रहे। यही कारण है कि उन्हें मुख्यधारा से अलग होकर निम्नतम जीवन जीने के लिए बाध्य होना पड़ा। सामान्यतः विजय शंकालु होती है। हर विजेता पराजितों के बारे में शंकित रहता है कि कहीं वह वर्ग पुनः संगठित हो कर उसके पराभव का कारण न बन जाय। अतः वह बल प्रयोग तो करता ही है, बौद्धिक रणकौशल का प्रयोग करके वह उसे हर तरह निर्वीय करने का प्रयत्न करता है। नैतिक साहस को तरह–तरह ध्वस्त करता है। उस काल में बौद्धिक क्षमताओं का भंडार या आगार ब्राह्मण वर्ग था। क्षत्रिय वीरता का स्रोत माना जाता था। इन दोनों ही वर्गों का उल्लेख प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है। इनके अलावा जो तीसरा वर्ग है वह अनार्यों का है। बाद में शायद इस तीसरे वर्ग से छनकर ही बाकी दो वर्ण निकले हों – वैश्य और शूद्र।

ईसा से दसवीं शताब्दी पूर्व तक चांडाल आदि वर्ग अस्पृश्य की श्रेणी में नहीं आते थे। *छान्दोग्य* उपनिषद में, जिसका सृजन या निर्माण ईसा के पूर्व आठवीं शताब्दी में हुआ, पुनर्जन्म का उल्लेख है। पुनर्जन्म का कारण पूर्वजन्म के कर्मों को बताया या माना गया है। जातीय कर्म–सिद्धान्त या वर्ण उसका आधार नहीं। यह अपेक्षाकृत अधिक वस्तुपरक आधार है। जाति, वर्ण आदि व्यक्तिपरक हैं। कहा गया है, जिनके कर्म नीच होंगे उन्हें यथाशीघ्र कुत्ते, सुअर, चांडाल आदि नीच योनि में जन्म लेना होगा (चाहे वे कोई भी हों)। चांडाल योनि को कर्म से जोड़ा गया है, जाति या वर्ण से नहीं। इस बात का भी उल्लेख नहीं मिलता कि वे अस्पृश्य ही होंगे। चांडाल भी मनुष्य थे। कुत्ते के साथ रखा जाने के बाद भी वे अस्पृश्य नहीं सिद्ध होते

क्योंकि कुत्ते और सुअर आज भी उस तरह अस्पृश्य नहीं। कुत्ता तो बिल्कुल ही नहीं। ऐसा करने के पीछे एक मनोवैज्ञानिक कारण हो सकता है। आरंभ से ही पुत्री परिवार के सम्मान का प्रतीक मानी जाती रही है। आधुनिकता की दृष्टि से भी और परंपरागत दृष्टि से भी। भले ही उसका रूप बीसवीं शताब्दी में कुछ बदल गया हो। *गौतम धर्म सूत्र* के श्लोक 4:15:23 में बताया गया है, चांडाल कौन है? शूद्र पुरुष और ब्राह्मण स्त्री के संसर्ग से जन्म लेने वाला चांडाल होता है। प्रतिलोम जातियों में सबसे निम्न और घृणित जाति मानी गई है। मनोविज्ञान की दृष्टि से शायद यह आक्षेप उनके लिए तर्कसंगत हो। सर्वोच्च मानी जाने वाली जाति ब्राह्मण की कन्या से शूद्र संतान उत्पन्न करे तो उच्च वर्ग ऐसे बच्चे को कैसे स्वीकार कर सकता है? उस वर्ग के द्वारा अपनी बेटी, जो परिवार में सम्मान का प्रतीक है, का त्याग और शूद्र पिता द्वारा उत्पन्न बच्चे को चांडाल कहना, दोनों ही, उस वर्ग के अमर्ष की अभिव्यक्ति हो सकती है, या है। कुत्ते–सुअर के समकक्ष रखकर वह वर्ग अपना गुस्सा निकालता है। लेकिन इस सबके बावजूद उसे अस्पृश्य घोषित नहीं किया गया। लगता है तब तक इस तरह की घटनाओं के प्रति कोई दंड विधान नहीं रहा होगा। नहीं तो हो सकता था उसको मृत्युदंड ही दे दिया जाता। तब चांडाल घोषित कर देना ही मृत्युदंड की तरह त्रासद रहा होगा।

एक प्रश्न और उठता है कि श्याम वर्ण, चपटी नासिका वाले लोगों के संपर्क में रूपवान आर्य कन्यायें क्यों और कैसे आती रहीं होंगी? अनार्यों की वीरता और संघर्षशीलता तो कारण नहीं था? आधुनिकतम आयुधों से संपन्न आर्यों से संघर्ष करने की उनकी क्षमता और निडरता तो उनके आकर्षण का कारण नहीं बने? वरना इतने घृणापूर्ण वातावरण में विजेताओं की कन्याएं अनार्यों के संपर्क में आने की धृष्टता क्योंकर कर सकती थीं? यह भी हो सकता है कि अनार्य उन कन्याओं का अपहरण कर लेते हों? ऐसे उदाहरण भी हमारे ग्रन्थों में हैं। इस तरह के या अन्य अज्ञात और अस्पष्ट कारणों से ब्राह्मण या उच्च वर्ग की कन्याओं से अनार्यों द्वारा उत्पन्न की गई संतान चांडाल आदि की कोटि में रखी गई हो। हो सकता है

आरंभ में इस तरह की घटनायें कम घटित होती हों। बाद में जब उनमें वृद्धि हुई हो तो अस्पृश्यता का प्रावधान किया गया हो। जो अमानवीय स्तर पर बीसवीं शताब्दी में भी बरकरार है। अमेरिकन ब्लैक–साहित्य में बॉडविन की कहानियों में उन काले लोगों के, जो गोरी स्त्रियों से शारीरिक संबन्ध स्थापित करते थे, अंग विशेष काट दिये जाते थे। उन्हें पेड़ों पर उल्टा लटकाकर नीचे आग जला दी जाती थी। उसे भीड़ देखती थी और खुश होती थी। इस तरह के अमानवीय उदाहरण हमारे धर्मभीरू समाज में आज भी मिलते हैं। अगस्त 2001 की घटना है कि मुज़फ्फरनगर के एक ग्राम में वहाँ की पंचाचत ने विजातीय विवाह करने पर लड़के–लड़की को सार्वजनिक रूप में फाँसी दे डाली। उनमें से एक दलित या नीची जाति का था। ऐसा लगता है विजेता और विजित के बीच के पारस्परिक घृणापूर्ण संबन्धों ने इन अमानवीय परंपराओं के निर्धारण में गहरी भूमिका निभाई है। नियमों और परंपराओं के निर्धारण के पीछे विजेताओं के अपने मान–सम्मान और प्राथमिकतायें तो जुड़े रहते ही हैं। विजतों के प्रति उपेक्षा, तिरस्कार और उनका मान–मर्दन चाहे किसी भी रूप में करें, उनका उद्देश्य होता है। मुस्लिम काल में हिन्दुओं पर जज़िया लगाया गया था। उसका कारण आर्थिक कम और मान–मर्दन की भावना शायद अधिक थी। हिन्दू राज–कन्याओं से मुस्लिम बादशाहों द्वारा विवाह किये जाने के पीछे भी इस तरह की मानसिकता रही होगी, राजनीतिक कारण तो थे ही। ब्रिटिश काल में अंग्रेज़ी गुनहगार का स्तर भारतीय गुनाहगार से ऊँचा था। उसे सज़ा देने के नियम अलग थे। कारावास अलग होते थे। उनके भोजन आदि की व्यवस्था और भत्ता देसी कैदियों से श्रेष्ठ थे। पाँच हज़ार वर्ष की इस लम्बी सांस्कृतिक यात्रा के दौरान शायद ही मनुष्य का मूल स्वभाव बदला हो।

दलित इन माडर्न इंडिया : विज़न एण्ड वैल्यूज़ (संपादक एस.एम. माइकेल, विस्तार पब्लिकेशन, नई दिल्ली) में भी प्रो. श्रीरमा के पर्चे 'अनटचेबिलिटी एण्ड स्ट्रेटिफिकेशन इन इंडियन सिविलाइज़ेशन' में लिखा है कि अनार्य कृष्णवर्ण बताये गये. . . .इसलिए आर्यों ने मूल निवासियों यानी दासों से दूरी बरती। दास सबसे नीच घोषित किये

गये. . . .(*ऋ.* 1981 : 2.12. 4)6। अगर यह कहा जाये कि सामाजिक स्तर पर *ऋग्वेद* ने आर्यों को श्रेष्ठता प्रदान की है और अनार्यों को दासता तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। ऋग्वेद जहाँ आध्यात्मिक श्रेष्ठता का माध्यम है वहीं वह एक वर्ग की दासता की दास्तान भी है। यह ज़रूरी नहीं कि इस मत को मान ही लिया जाय। परन्तु इस तरह का प्रतिलोम मत सोचने के लिए बाध्य भी करता है। उसे अनदेखा नहीं किया जा सकता। क्योंकि किसी भी ग्रन्थ का सामाजिक पक्ष आध्यात्मिक पक्ष के आलोक में ओझल हो जाता है। उपरोक्त पुस्तक में प्रो. श्रीरमा के मतानुसार ऋग्वेद में वर्ण शब्द चतुर्वर्ण के अर्थ में इस्तेमाल न होकर चमड़ी के रंग के अर्थ में इस्तेमाल हुआ है। तब तक चतुर्वर्ण की अवधारणा अस्तित्व में नहीं आयी थी। दो ही वर्ण थेः एक आर्य यानी गौर वर्ण, दूसरा अनार्य यानी कृष्ण वर्ण। जैसा कि ऊपर कहा गया है इन ग्रन्थों में ब्राह्मण और क्षत्रिय जातियों का उल्लेख मिलता है। ये दोनों ही गौर वर्ण माने जाते हैं। यह बात अलग है कि इन दोनों जातियों के बीच श्रेष्ठता और वरीयता के लिए, न सही बाह्य, पर आन्तरिक संघर्ष चलता रहा। वशिष्ठ और विश्वामित्र इसके उदाहरण हैं। ब्रह्मऋषि और राजऋषि को लेकर इन दोनों के बीच लगातार विवाद बना रहा। इस संदर्भ में भगवान सिंह का उपन्यास *अपने–अपने राम* ध्यान आकर्षित करता है। हालाँकि व्यक्तिगत रूप से मैं मानता हूँ कि कई स्थलों पर अतिरेक भी है। इस उपन्यास में राम को इस विवाद से अलग रखने के पीछे भी कहीं न कहीं यही मानसिकता है। लेकिन इस आख्यान का आधुनिक साहित्य के माध्यम से रचनात्मक पटल पर इस रूप में जाना इस बात का प्रमाण है कि आधुनिक सोच को भी यह आख्यान उसी संदर्भ में उद्वेलित करता है जिस स्तर पर वह तब करता रहा होगा। उसके आयाम बदल गये हैं पर उसने इस युग में भी लेखकीय हस्तक्षेप को काफी हद तक आमंत्रित किया है। 'पुरुषसूक्त' में शायद पहली बार चार जातियों का उल्लेख हुआ है। उनको विभाजित करने वाली वर्ण व्यवस्था का उल्लेख वहाँ भी नहीं। यह एक सकारात्मक पक्ष है कि आर्यों ने अनार्यों को प्रताड़ित किया, बस्तियाँ जलाईं, उन्हें जंगलों में शरण लेने के लिए मजबूर किया परन्तु उनको न वर्णों में

बाँटा और न ही अस्पृश्य घोषित किया।

अनार्यों में भी दो वर्ग थे – एक दास दूसरा पणि। 'पणियों' का अपभ्रंश शायद 'बनिया' या 'बणिक' हो। मूलनिवासियों को, जिन में दास और पणि दोनों ही थे, दंडित करने के या उनका नाश करने के लिए इन्द्र की प्रशंसा की गयी हैः

त्वं पिप्रुं मृगयं शूशुवांसमृजिश्वने बैदथिनाय रन्धीः।
पंचाशत्कृष्णा निवपः सहस्रांत्कं न पुरो जारिमा विदर्दः
(ऋ. 4.16.13)

इस श्लोक का आशय है कि तुमने (इन्द्र) विदाथ के पुत्र ऋजिश्वान के लिए पिप्रुं तथा बलवान मृग्यू का दमन किया तथा पचास हजार कृष्णवर्णी जनों को इस तरह समाप्त किया जैसे वृद्धावस्था रूप और बल को नष्ट करती है। तथा तुमने (शाम्बर के) पुरों को ध्वस्त किया।

मृग्यू, पिप्रुं तथा पचास हजार कृष्णवर्णियों की हत्यायें की गईं, उनके पुर जलाये गये। कई बार लगता है जिनकी शक्ति का अन्दाज़ नहीं लग पाता या जो हमारी मानसिकता, मान्यताओं, आचरण, व्यवहार और नीतियों के विपरीत होते हैं उन्हें हम कोई भी नाम देकर उनका दमन करते रहे हैं। जो कमज़ोर होते हैं वे बलवान की अधीनता स्वीकार कर लेते हैं और बलवान अपना आधिपत्य स्थापित करने में कामयाब हो जाते हैं। सत्ता इस प्रकार की विडम्बनाओं का अलिखित दस्तावेज होती है। पराजित वर्ग की कोई भी श्रेणी बनाकर उसे मुख्यधारा से अलग कर दिया जाता है। वे अग्राह्य हो जाते हैं। शेक्सपीयर के नाटक मेकबेथ के बारे में कुछ विद्वानों का मत है कि एक श्रेष्ठ रचना होने के बावजूद वह तत्कालीन सत्तारूढ़ वंश को प्रमुखता देने की दृष्टि से उनके द्वारा पराजित वर्ग के शौर्य आदि को नज़रअन्दाज़ करते हुए लिखा गया था। खैर, वास्तविकता जो भी हो, अगर धार्मिक मान्यताओं से थोड़ा हटकर सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सोचने की स्वतंत्रता ली जाये तो इस संभावना को अस्वीकार करना कठिन हो सकता

है कि ऋग्वेद सामाजिक परिवर्तन के इतिहास के रूप में भी लिया जाना चाहिये। उस युग में हुए राजनीतिक और सामाजिक परिवर्तन के तर्क को समझने की जरूरत से इंकार नहीं किया जा सकता। वेदों में अध्यात्म और सामाजिक परिवर्तन का उल्लेख है। पहला पक्ष विलक्षण रूप से रचनात्मक है। सामाजिक परिवर्तन की धारा को भी उसी से जोड़कर उसे मिथक का रूप दे दिया गया है।

संस्कृत ऐसी भाषा है जिसमें एक–एक श्लोक के कई–कई अर्थ होते हैं। जिन्हें सामान्य रूप से समझना कठिन है। वेदों के बारे में माना जाता है कि प्रत्यक्ष शब्दार्थ के अतिरिक्त भी हर श्लोक के अनेकार्थ हैं जो उसी में छिपे रहते हैं। ऋग्वेद के 7वें मंडल में 5वें सूत्र का तीसरा श्लोक हैः

वदर्भिया विश आयन्नसिक्नी रसमना जहतीर्भो जनानि।
वैश्वोनर पूरवे शोश चानः पुरे यदग्ने दरयन्न दीदैः।।

इसका आशय भी यही है कि हे अग्नि! तेरे भय से कृष्णवर्णी जातियाँ अपनी समस्त सुख–सम्पत्ति छोड़कर भाग जाती हैं, बिखर जाती हैं, जब तेजवान वैश्वानर, उनके नगर या पुर भस्म कर देता है। ये कृष्णवर्णी जातियाँ कौन हैं? इनकी सामाजिक स्थिति क्या है? क्या वे सब राक्षस हैं? अगर राक्षस हैं तो कहाँ से आये? उन्हें राक्षस इसीलिए नाम दिया गया कि वे बलवान थे, पर पराजित हो गये थे? उनका पराजित होना ही संदर्भ बदल देता है। उस वर्ग का पुरों से उजड़ कर जंगलों में जाकर बस जाना, ईंट–पत्थरों या पर्ण के कच्चे घरों में रहने के लिए बाध्य होने की बात स्पष्ट है।

पणियों का ऊपर उल्लेख किया गया है। नगरों में रहकर व्यवसाय करने वाले अधिकतम पणि थे। ये भी अनार्यों की श्रेणी में ही थे। ऐसा लगता है उन्होंने भी आर्यों के साथ लंबा संघर्ष किया था। यह भी माना जाता है कि ऋग्वेद में उल्लिखित सिन्धु सभ्यता उन्हीं पणियों की थी। ये समुद्री तटों पर बसे थे। इसका कारण समुद्र के रास्ते व्यापार था। इनकी अकूत सम्पत्ति ने भी आर्यों को आकर्षित किया था। ऋग्वेद के दसवें मंडल में एक सूत्र में बताया गया है,

इन्द्र की कुतिया पणियों का छिपा धन खोजने गई थी। एक संवाद में पणियों ने कहा है कि उनकी सम्पत्ति, उनकी गायें, घोड़े तथा अमूल्य वस्तुएँ पर्वतों के किले यानी कन्दराओं में छिपी हैं, तथा अद्वितीय योद्धा पणियों द्वारा संरक्षित हैं। आर्यों ने उस सम्पत्ति को ढूँढ कर अन्ततः उस पर कब्जा कर लिया था (ऋ. 1981: 2. 14. 6)।

पणियों को आर्य अविश्वसनीय और मूर्ख मानते थे। दरअसल वे आर्य देवताओं की पूजा नहीं करते थे। इसलिए उन्हें ईश्वरविहीन या नास्तिक करार दे दिया गया था। उनका पीछा करके उन्हें पूर्व की ओर धकेल दिया गया हालांकि कुछ पणियों ने संघर्ष किया। ऋग्वेद में इसका उद्धरण मिलता है:

अमित्र हा विचर्षणिः पवस्व सामशंशवों देवेम्यो अनकामकृत
(ऋ. 9.11.7)

इस श्लोक का आशय है – हे सोम आप अमित्रों, प्रेमरहित नास्तिकों का हनन करने वाले हैं। अमित्र का प्रयोग उन अनार्यों के लिए किया गया है जो संघर्षरत थे और आर्य देवों में अनास्था रखते थे। इस्लाम धर्म में भी इस्लाम में विश्वास न रखने वालों को काफिर की संज्ञा दी गई है। दक्षिण अफ्रीका में, गोरे वहाँ के मूल निवासियों यानी काले लोगों को भी काफिर कहते हैं। एक दूसरा उदाहरण है – 'पणि वृकोहिनः' – पणि चोर हैं उनको नष्ट कर दो।

इसका दूसरा पक्ष भी है। पणि अनार्य होते हुए भी धनी थे, शक्तिशाली और संघर्षशील थे। इसलिए उनकी शक्ति की थाह मिल जाने पर उन्हें वणिक (वैश्य) नाम देकर, लगता है, तीसरे वर्ण के रूप में चतुर्वर्ण में मिला लिया गया था। ऐसे भी श्लोक मिलते हैं जिनमें पणियों की प्रशंसा की गई है।

पणियों में ब्रिवू महान है, उसका हृदय गंगा के मैदान की तरह विशाल है . . . उसके द्वारा उपहार दी गई हज़ारों गायें वायु की तरह चारों तरफ विचरण कर रही हैं. . .

(ऋ. XLV 31.33)

यह विरोधाभास इस ओर संकेत करता है कि आर्यों ने अनार्यों से उनकी शक्ति और समृद्धि को ध्यान में रखकर उनके साथ सह–अस्तित्व स्थापित किया। जिन दासों ने गायों का दान किया उनकी भी प्रशंसा की गई (ऋ. VIII-XLVI 33)।

अगर वे मूल रूप से राक्षस वृत्ति के लोग थे तो उनका दमन श्रेयस्कर होता। परंतु ऐसा नहीं था। लगता है अनार्यों यानी दासों और पणियों में जो शक्तिशाली या समृद्ध थे, आर्यों ने उनके साथ नीतिगत समझौता करके अपने साथ किसी न किसी रूप में मिला लिया था।

इन ग्रन्थों को पढ़ते समय दो बातें सामने आती हैं। वेदों या अन्य धर्मग्रन्थों का हम आस्था के साथ, धार्मिक दृष्टिकोण से, अध्ययन करें तो हमें यह मानना होगा कि कृष्णवर्णी राक्षस थे और गौरवर्णी देवता। देवताओं का राक्षसों पर विजय पाना या उनका दमन करना धर्मानुसार और उचित है। एक समाजशास्त्रीय पक्ष भी हो सकता है। हालाँकि धर्मग्रन्थों के संदर्भ में इस तरह के विचार विधर्म के अन्तर्गत आयेंगे। लेकिन अध्ययन के इस पक्ष को आज के युग में नकार पाना संभव या कहिये शायद उचित न हो। समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से यह मान लेना उचित नहीं लगता कि आर्यों के मुकाबले जितने भी मूल निवासी थे सब राक्षस थे। यह हो सकता है कि सभ्यता की दृष्टि से वे आर्यों के समान न हों या उनके रहन–सहन, खान–पान में उनकी सी शुद्धता या शुचिता न हो। जैसा कि मुसलमानों के साथ हुआ। उन्हें म्लेच्छ कह कर अस्वीकार कर दिया गया। इसका कारण यह भी हो सकता है कि जिन्हें राक्षस घोषित किया गया, वे आर्यों की अधीनता स्वीकार करने के लिए तैयार न रहे हों। या उनकी सत्ता को नकारने पर उतारू हो गये हों, जो वे थे। समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से इस भूखंड पर रहने वाला वह एक मानव समुदाय था। उसे आप ज़्यादा से ज़्यादा 'आदि मानव' या 'अमानुष' की संज्ञा दे सकते हैं पर उनका मनुष्य होने का अधिकार छीनकर राक्षस कहकर उनके जीवन जीने के अधिकार को नकारना या उन्हें निम्नतम स्थिति में रखकर उनसे अमानवीय व्यवहार करने की स्थिति, इस पूरे संदर्भ पर पुनर्विचार की माँग करती है। राक्षस शब्द परंपरागत

रूप से अमानवीय होने का संकेत देता है। कोई कितना अमानवीय हो सकता है? क्या दमित ही अमानवीय हैं, दमन करने वाले नहीं? हाँ, इसका एक तर्क है: विजेता वर्ग के सामने श्यामवर्णी मूल निवासी अपने अधिकारों को समर्पित न करने के कारण खलनायक की भूमिका में आ गये थे। स्वाभाविक है कि विजेता वर्ग ने उनके पराभव के बाद उनकी बस्तियों को नष्ट करके उन्हें राक्षस की संज्ञा दी। राक्षस की संज्ञा इस बात की भी द्योतक है कि वे वीर थे और आर्यों से अपनी रक्षा का हर संभव प्रयास कर रहे थे। वीरता शत्रुता के संदर्भ में कभी स्वीकार्य नहीं होती। एक तरह से वह गौतमवाद होता है। स्वाभाविक है कि दोनों के बीच पारस्परिक शत्रुता का रिश्ता रहा होगा। आर्यत्व के उत्कर्ष के बाद भी अनार्यों द्वारा आर्यों के अनुष्ठानों को भंग करने के उदाहरण मिलते हैं। *रामायण* में इसका उल्लेख है। *महाभारत* में भी है। विश्वामित्र भले ही ब्राह्मणीय वर्चस्व से क्षुब्ध रहे हों परन्तु अनार्यों के संदर्भ में वे उतने ही आर्य थे जितना ब्राह्मणवर्ग। उनके वध के लिए वे दशरथ से उनके दो पुत्रों को माँगकर ले गये थे। वशिष्ठ ने भी उस समय उसका प्रतिरोध नहीं किया था।

महाभारत में अपेक्षाकृत अधिक समन्वय है। हिमाचल प्रदेश के नगर मनाली में हिडिम्बा (राक्षसी) का मन्दिर देखकर एक विचित्र अहसास हुआ। उस मन्दिर में एक 'राक्षसी' की पूजा देवी की तरह होती है। वैदिक देवियों की भाँति वहाँ भी एक पशुबलि चढ़ती है। भीम हिडिम्बा के साथ विवाह करने के बाद छोड़ कर चला गया था। अपने त्याग और भीम के नाम पर जीवन उत्सर्ग करने के कारण हिडिम्बा देवी का स्थान पा गई। भारत में आज भी ऐसे अनेक उदाहरण हैं, पति छोड़कर चले जाते हैं और पत्नियाँ उसके नाम पर जीवन गुज़ार देती हैं। दूसरी घटना हिडिम्बा के पुत्र घटोत्कच की है। उसने माँ के कहने पर अपने पितृव्य की जान बचाने के लिए इन्द्र द्वारा प्रदत्त प्राणहन्ता शक्ति को अपने ऊपर ले लिया और जान गँवा दी। एक तरह से यह उसका उस पिता के वंश के लिए बलिदान था जिससे उसका न्यूनतम संबंध रहा। एक राक्षसी के पुत्र ने रामायण की परंपरा के विरुद्ध उस वंश की रक्षा की जो उसके

अपने कुल या वंश का नहीं था। यानी आर्य वर्ग का था। घटोत्कच का भी मंदिर हिडिम्बा के मन्दिर के पास है। उस पर भेड़ों की बलि चढ़ती है। यानी माँ–बेटे का राक्षसी रूप अभी भी आंशिक रूप से बरकरार रखा गया है।

रंगभेद और वर्णभेद ऐसा नहीं कि केवल रामायण या महाभारत काल में ही हो। आधुनिकता के इस युग में और सभ्य माने जाने वाले देशों में भी वह मौजूद रहा है। हिटलर इस श्रेष्ठतावाद का सबसे बड़ा प्रतीक है। उसने यहूदियों का उसी प्रकार दमन किया जिस प्रकार प्राचीन युग में अनार्यों का किया गया होगा। अंग्रेज भारत में आये। अगर वे विजेता के रूप में भारत में बस गये होते तो हज़ार दो हज़ार वर्ष बाद दक्षिण अफ्रीका के मूल निवासियों की तरह वे भारतीयों के लिए भी काफिर जैसा कोई शब्द ईजाद कर लेते। यहाँ के मूल निवासियों को वे 'नेटिव्ज' तथा भाषाओं को 'वर्नाक्यूलर' यानी देशी या जनजातीय भाषा कहते ही थे। इन शब्दों का अर्थ भले यही हो। परन्तु उनमें उनके मन की घृणा और उपेक्षा निहित थी और है। अमेरिका में वहाँ के मूल निवासियों का दमन करके 'रेड इन्डियन्स' के रूप में उन्हें नुमायश की वस्तु बनाकर रखा गया है। भले ही इसका कारण यह रहा हो कि दक्षिण अफ्रीका के गोरों की तरह, वहाँ के गोरे भी उन मूल निवासियों से काम लेने में असमर्थ रहे हैं। यही नहीं अगर हिटलर विश्वविजयी हो गया होता तो यूरोप के अनेक वर्तमान विकसित कहे जाने वाले देशों की भी इसी से मिलती–जुलती कहानी होती। दरअसल रंगभेद और वर्णभेद का यह कीड़ा गौरवर्ण और श्यामवर्ण के बीच युगों से पनपता रहा है। वेदों में यह पर्याप्त परिलक्षित है।

इसका दूसरा पक्ष भी है। वेदों और उपनिषदों में विचार वैभिन्य नज़र आता है। डॉ. श्रीरमा ने अपनी पुस्तक *दलित इन माडर्न इंडिया* में लिखा है कि ''धीरे–धीरे ब्राह्मण वर्ग के अलावा शेष तीनों वर्णों ने (ईसा पूर्व आठवीं शताब्दी में) कर्मकांड के प्रति एक प्रकार का विकर्षण विकसित कर लिया था। आरण्यकों और उपनिषदों में एक नई वैचारिक परंपरा विकसित होती नजर आती है . . . वह थी ब्राह्मणिक श्रेष्ठता को चुनौती तथा उसमें निहित बलि–यज्ञ विधान

संबंधी कृत्यों के प्रति अविश्वास।. . . उपनिषदों का एक दूसरा रोचक पक्ष था कि पूर्व (वैदिक) परंपरा के विरुद्ध नये परिवर्तन के पीछे मुख्यतः क्षत्रिय, निम्नवर्ग तथा महिलायें थीं। . . . उपनिषदीय विचार वैदिक वैचारिक परंपरा से भिन्न है। वास्तव में एक तरह से वर्णव्यवस्था के प्रति विद्रोह है।''[7] पता नहीं श्रीरमा का यह मत विद्वानों के बीच किस सीमा तक मान्य है लेकिन इस मत को पूरी तरह अस्वीकार भी नहीं किया जा सकता।

उपनिषदों में ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जहाँ ब्राह्मण गुरुओं को सत्य का ज्ञान लेने के लिए क्षत्रियों के पास जाना पड़ा। याज्ञवल्क्य और जनक संवाद उसका उदाहरण है। *छान्दोग्य उपनिषद* के श्लोक 5.3.7 में मिलता है कि पाँचाल के राजा जैवाली ने गौतम को दीक्षित किया और कहा कि यह ज्ञान ब्राह्मणों के पास न होकर क्षत्रियों के पास है। *बृहदारण्यक उपनिषद* में मिलता है कि ब्राह्मणों के शक्तिशाली न होने के कारण श्रेष्ठतम शक्ति यानी क्षत्रियों को उत्पन्न किया गया। अतः ब्राह्मण को राजसूय यज्ञ में क्षत्रिय से नीचे आसन मिलता था (*बृ.* 14.41.11)। यही नहीं राजाओं को ज्ञान की खोज में निम्नतम जातियों की शरण में भी जाना पड़ता था। पंडित हजारी प्रसाद द्विवेदी के उपन्यास *अनामदास का पोथा* का आरंभ एक ऐसी ही कथा से होता है। उन्होंने रैक्व आख्यान का उल्लेख किया है। वे पृ. 16 पर लिखते हैं'' . . . वे (रैक्व) एक रथ के नीचे बैठ कर शरीर खुजला रहे थे। उसी समय राजा जनश्रुति तत्त्व–ज्ञान की भिक्षा माँगने पहुँचे थे। कोई नहीं जानता था रैक्व और सारी चीज़ों को छोड़कर रथ की छाया में क्यों बैठे थे। अनुमान किया गया है कि शायद वे स्वयं रथ बनाने या चलाने का कारोबार करते हों . . . .।''

अगर वे रथ चलाते या बनाते थे तो स्वाभाविक है वे ब्राह्मण या क्षत्रिय नहीं थे, वे सूत थे या बढ़ई रहे होंगे। क्योंकि तब यह संभव नहीं रहा होगा कि हर कोई हर काम करने के लिए स्वतंत्र हो। हजारी प्रसाद द्विवेदी की मान्यता है कि वे रथ चालक नहीं थे, शुद्ध चिन्तक थे। चिन्तक तो रथ चालक भी हो सकता है। अतः यह केवल तर्क भर है जो यह बताता है कि चिन्तक उच्चवर्गीय व्यक्ति ही हो सकता है।

उपनिषद काल में गोरे और काले का भेद भी कम हो गया था। *बृहदारण्यक उपनिषद* में इस तरह के अनुष्ठानों का उल्लेख मिलता है जो गौरवपूर्ण पुत्र के साथ–साथ श्यामवर्णी पुत्रोत्पत्ति के लिए किये जाते थे। जब कि कृष्णवर्ण अनार्यों के लिए ही आरक्षित था। यहाँ तक कि पुत्री प्राप्ति के लिए भी अनुष्ठान का विधान है। हालाँकि पुत्री भारतीय परंपरा में सदा से उपेक्षा की 'वस्तु' रही है। *महाभारत* में राजा द्रुपद के द्वारा पुत्रेष्टि यज्ञ का उल्लेख है। उसी यज्ञ से उन्हें पुत्री की भी प्राप्ति हुई थी जो बाद में महाभारत के सबसे सक्षम स्त्रीचरित्र के रूप में स्वीकृत हुई। मेरे नाटक प्रजा ही रहने दो में द्रुपदपुत्री द्रोपदी अपनी वेदना इस रूप में व्यक्त करती हैः

> द्रोपदी – आप जानती हैं मैं कौन हूँ. . .न मेरी कोई जाति है, न मैं किसी के वीर्य से जन्मी हूँ। धरती की गोद में उग आने वाली घास की कोई वंश–परंपरा और जाति नहीं होती।[8]

एक प्रश्न उठता है कि उपनिषदों में यह उदारता या वेदों के संदर्भ में मत–वैभिन्य अनार्यों की उपस्थिति के कारण तो नहीं आया? आत्मा का आवागमन तथा पुनर्जन्म इस उदारता के कारण तो नहीं हैं? आत्मा का आवागमन तथा पुनर्जन्म इस उदारता के उदाहरण हैं। हालाँकि बाद में चलकर पुनर्जन्म ही जन्मना असमानता का कारण बना। इसके पीछे दर्शन तो यही था कि ब्राह्मण या शूद्र पूर्वजन्म के कर्मों के आधार पर ही जन्म लेता है।

> ''*ऋग्वेद* और पारसी ग्रन्थ *अवेस्ता* के अनुसार तो मृतक अपने पूर्वजों के पास स्वर्ग जाता है।''[9]

आत्मा के आवागमन का सिद्धान्त सांख्य, योग और वेदान्त के द्वारा ईसा के बाद छठी शताब्दी से आया माना जाता है। दुर्भाग्यवश शताब्दियों से ही वर्णाश्रम का आधार भी बना हुआ है। सवाल है कि यदि आत्मा कर्म के आधार पर जन्म लेती है तो उसमें जन्मनाजाति या वर्ण क्यों? वह तो पूर्वजन्म का कर्म ही निर्धारित करेगा कि ब्राह्मण,

क्षत्रिय हो या शूद्र हो या शूद्र वैश्य या ब्राह्मण हो। हम यह निर्धारित करने वाले कौन होते हैं? भले ही वे स्मृतियाँ हों। अस्पृश्यता के आधार पूर्वजन्म के कर्म कैसे हो सकते हैं? जिसे न ब्राह्मण जानता है और न स्वयं जातक। जिन कर्मों के कारण मनुष्य अस्पृश्य बना उन कर्मों को करते हुए क्या सवर्ण अस्पृश्य नहीं होगा? लेकिन दूसरा व्यक्ति (अवर्ण) कर्मों के बारे में जाने बिना अस्पृश्य कैसे हो जायेगा? चूँकि अस्पृश्यता को वर्णव्यवस्था का अंग बना दिया गया इसलिए हिन्दू समाज इस जकड़बन्दी में बुरी तरह कस गया। यह जानने का कोई और आधार तो था नहीं कि कौन कैसे और किन कर्मों के आधार पर सवर्ण या अवर्ण है या होगा? इसलिए उसका आधार जन्म मान लेना क्या ऐसा नहीं लगता कि वह मनस्वी निर्णय न होकर भौतिकता पर आधारित बनायी गई वर्ण–व्यवस्था थी। स्वाभाविक है कि कर्माधारित पुनर्जन्म का सकारात्मक पक्ष कमज़ोर और निषेधात्मक हो गया। कर्म और वर्ण की सारी श्रेष्ठता पहले स्थान पर ब्राह्मण वर्ग के हिस्से में आ गई, दूसरे स्थान पर क्षत्रिय के हिस्से में, बची–खुची वैश्यों को दे दी गई यानी वे अस्पृश्य नहीं माने गये। शूद्र तो शूद्र बना ही रहा। परन्तु उन्हें चौथे वर्ण के रूप में चतुर्वर्ण का हिस्सा मान कर वरीयता में सम्मिलित कर लिया गया। कर्म–व्यवस्था को जाति या वर्ण–व्यवस्था से जोड़कर उसे नकारात्मक बना दिया गया। उसका नतीजा यह हुआ कि जो जन्मना जितना श्रेष्ठ था उसके उतने ही श्रेष्ठ कर्म मान लिये जाते थे, वे दूसरे यानी अपने से नीचे वर्ण को सम्मान देने में उतने ही कृपण भी थे तथा अपनी तथाकथित श्रेष्ठता की पादपीठ से नीचे पाँव रखने में उतने ही नकारात्मक थे। बौद्ध धर्म ने यद्यपि इस वर्ण–व्यवस्था का खंडन किया है लेकिन पुनर्जन्म उसका उतना ही सक्षम आधार हैः

केवल जन्म से कोई ब्राह्मण नहीं हो जाता,
केवल जन्म से कोई नीच नहीं हो जाता,
अपने कार्यों से ब्राह्मण बनता है,
अपने कर्मों से नीच बनता है।

(सूत्र *निपाताः* 1913:135)[10]

नीच की परिकल्पना बौद्ध धर्म में भी है, रूप भले ही भिन्न हो। कर्म की महत्ता भी है। हालांकि डॉ. धर्मवीर ने लिखा है ''बौद्धकाल और ब्राह्मण काल'' में दलितों की पहचान मिटी–मिटी सी है. . . यदि भारत के इतिहास में मुस्लिम काल और ब्रिटिश काल नहीं है तो बौद्धकाल और हिन्दूकाल अदल–बदल कर क्षत्रिय और ब्राह्मण ही इतिहास के हीरो–हिरोइन बने रहते। तब दलित और वैश्य पर्दे से गायब हो जाते।[11] उसी तारतम्य में वे आगे लिखते हैं ''मेरी दृष्टि में अच्छा होता यदि बौद्ध काल में सुप्पिय भंगी बुद्ध को अपने दलित धर्म में दीक्षित कर लेती?'' सुप्पिय जब आहार लेकर बुद्ध के पास गई तो बुद्ध हिचकिचाये थे, तब उनके प्रमुख शिष्य आनन्द के हस्तक्षेप पर उन्होंने उसे ग्रहण किया था। खैर, इस संदर्भ में एक बात उठती है, डॉ. धर्मवीर ने दलित–धर्म की व्याख्या नहीं की। शायद उनका तात्पर्य रहा हो कि बुद्ध को उसी समय दलित बना लेना चाहिये था। यदि ऐसा नहीं है तो उनके द्वारा 'दलित धर्म' शब्द के प्रयोग से यह प्रश्न उठेगा कि दलित धर्म क्या है? अगर है तो बाबा साहब ने इसका ज़िक्र क्यों नहीं किया? इसका दूसरा पक्ष है दलित हों या जनजातियाँ या सवर्ण सब अलग–अलग धर्मों, जातियों और उपजातियों में बँटे हैं। सब का शायद ही कोई एक धर्म हो? यह बात अलग है दलित धर्म की संरचना बाबा साहब कर सकते थे। उन्होंने बौद्ध धर्म ग्रहण करने से पूर्व इस पक्ष पर भी विचार किया था परन्तु अंततः उन्होंने बौद्ध धर्म को ही स्वीकार करना उचित समझा। डॉ. धर्मवीर बुद्ध को दलित धर्म में दीक्षित न कर पाने को ''इतिहास की दिशा में भारी धोखा और आघात मानते हैं।'' धोखा किसके द्वारा? उनका यह कहना कि ''उस नुकसान की आज तक भरपायी नहीं हो पायी है क्योंकि इसी एक घटना के कारण अस्पृश्यता तब से लेकर आज तक मौजूद है और संविधान के महती प्रयासों के बावजूद समाज में मिटी नहीं है। नाई उपालि भिक्षुओं के बाल और दाढ़ी मूछें कटाते रह गये हैं। यह किसी भी तरह का सामाजिक परिवर्तन और विकास नहीं था।''[12] स्पष्ट है कि वे बौद्ध धर्म को दलितों के संदर्भ में सामाजिक परिवर्तन या विकास नहीं मानते। लेकिन बाबा साहब ने माना। भले ही वे अपनी शर्तों के साथ बौद्ध धर्म में गये हों

पर मूल धर्म तो बौद्ध धर्म ही था जिसने वर्ण–व्यवस्था को जड़ से अस्वीकार किया था।

ऐसा लगता है कि डॉ. धर्मवीर ने समस्त सामाजिक संघर्ष को 'संविधान के महती प्रयासों' की ओट में नज़रअन्दाज कर दिया। संविधान तो उन्हीं परिवर्तनोन्मुखी प्रयासों का प्रतिफल होता है जो समाज के द्वारा समय–समय पर किये जाते हैं। संविधान कोई ऊपर से नहीं टपका। हर देश के संविधान का उत्स उसका समाज है। गाँधी और अंबेदकर ने अस्पृश्यता के विरुद्ध व्यावहारिक और वैचारिक स्तर पर जो संघर्ष और प्रयास किये उन्हीं के फलस्वरूप अस्पृश्यता के विरोध में संविधान की धाराओं का नियमन किया गया। अस्पृश्यता को दंडनीय करार देना उसी का नतीजा था। दलित प्रश्न को भारतीय संदर्भ में किस रूप में समझा जाय या उसे कितना सीमित किया जाये यह उन लोगों के लिए चुनौती है जो कबूतर की तरह आँखें बंद करके यह समझ लेना चाहते हैं कि उस संघर्ष से उनका कोई सरोकार नहीं। यह संघर्ष उनका भी है जो बिना बोले मर मिटे। उनका भी है जो छुट–पुट रूप में समय–समय पर आवाज़ उठाते रहे। उनका भी है जिन्होंने जीवन झोंक दिया। चाहे वे किसी भी जाति या वर्ण के हों।

अगर यह माना जाये कि वे सब अनार्य, जिनकी सन्तानों को अस्पृश्यता का अभिशाप युगों तक भोगना पड़ा, इसी भूमि के मूल निवासी थे तो उस हालत में आर्य और अनार्य यानी विजेता और विजित के संदर्भ में मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी विचार करना होगा। यदि यह भी माना जाये कि आर्य बाहर से न आकर इसी धरती के निवासी थे, जैसा कि आज कुछ विद्वान मानते हैं, तो इस सवाल पर भी गंभीरता से विचार करना होगा कि एक ही धरती पर जन्मे और रहे लोग आर्य और अनार्यों में कैसे बँट गये, अगर शक्तिशाली ने कमजोर का उन्मूलन किया तो भी आर्य ही करने वाले थे और जिनका हुआ वे भी आर्य ही थे। अनार्य होने का सवाल तब प्रासंगिक नहीं रहता। ऐसा भी नहीं कि कोई सांस्कृतिक क्रान्ति हुई हो। लगता है यह दमन और प्रतिदमन की कहानी थी। जो विजयी थे वे श्रेष्ठ हो गये जो हारे उन्हें निम्नतम स्थितियों में रहने के लिए बाध्य किया

गया और उसी के अनुसार सामाजिक नियमों का नियमन किया गया।

हार–जीत के प्रश्न को लेकर इधर कुछ उदाहरण सामने आ रहे हैं। दूसरे युद्ध के दौरान प्रताड़ित देश, विजेता या प्रताड़ित करने वाले देशों से उनकी ज्यादतियों के लिए माफी माँगने के लिए दबाव डाल रहे हैं। जापान जैसा समृद्ध देश उन राष्ट्रों से शाब्दिक प्रतिकार चाहता है जो उसके पराभव का कारण थे। यही चीन की माँग है। अभी पिछले दिनों बंगलादेश की प्रधानमंत्री ने पाकिस्तान की फौजों से उनके द्वारा की गई ज्यादतियों के लिए माफी माँगने के लिए कहा। सन् 2000 में, सिडनी में हुए ओलम्पिक खेल गाँव के बाहर वहाँ के मूल निवासी अपनी पारंपरिक वेशभूषा में, गोरों के द्वारा उनकी धरती छोड़कर चले जाने के लिए आन्दोलन कर रहे थे। उनके खिलाफ लंबे संघर्ष का ऐलान कर रहे थे। जब देश अपमान नहीं भूलते तो वह जनसमुदाय जो देश बनाता है, अपना अपमान कैसे भूल सकता है। दलित एक बड़ी संस्कृति का हिस्सा हैं जो अस्पृश्य बन कर सदियों तक रहे। जातीय अपमान भी पारे की तरह कहीं से भी फूट कर, कभी भी बाहर निकल सकता है। देशों तक को कई बार अस्पृश्यता का भोग भोगना पड़ता है। ईराक इसका उदाहरण है। आर्थिक और सामाजिक रूप से समर्थ देश किसी को भी स्पृश्य या अस्पृश्य बना सकते हैं। यह बात जाति और धर्मों पर भी लागू हो सकती है।

जहाँ तक इस देश के दलितों का प्रश्न है, वे सहस्त्राब्दियों से अमानवीय स्थितियों से गुज़रते रहे हैं। क्या हमें स्मृतियों आदि धार्मिक ग्रन्थों पर इस दृष्टि से विचार नहीं करना चाहिये कि बदले हुए संदर्भों में उन अंशों की कितनी प्रासंगिकता है, जिनके कारण एक राष्ट्र का इतना बड़ा जनसमुदाय हज़ारों वर्षों से त्रासद जीवन जीने के लिए बाध्य है। कहीं ऐसा तो नहीं कि एक या दो जातीय वर्गों ने अपना वर्चस्व बनाये रखने के लिए उन अंशों को बाद में जोड़ दिया हो? हालांकि इस प्रश्न को सुलझा पाना आसान नहीं। इतने लंबे अन्तराल को लाँघकर किसी निर्णय पर पहुँचना फिलहाल किसी के लिए भी संभव नहीं। चाहे हिन्दू हों या बौद्ध या अन्य धर्म

के लोग। यह समझना बेहद आवश्यक है कि मानव जाति की इस अधोतम अभिशाप से कैसे मुक्ति हो? यह गौर करने लायक बात है कि सहस्त्राब्दियाँ बीत जाने के बाद भी देशवासियों का एक बहुत बड़ा वर्ग अपने को उन अनार्यों का वंशज मान रहा है जिन्हें ईसा के पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व अपनी पहचान खोकर जनजातियों तथा अन्त्यजों की तरह जीवनयापन करने के लिए मजबूर होना पड़ा था। यद्यपि उनमें से कुछ को शूद्र मानकर चतुर्वर्ण में मिला लिया गया। हो सकता है उस समय वह वर्ग उनके दबाव में आकर इस स्थिति को मानने के लिए बाध्य हो गया हो या चतुर्वर्ण का हिस्सा बनना उन्होंने सम्मान की बात समझी हो। या ऐसा करना उन विजेताओं के लिए बाध्यता रही होगी जैसा पणियों के संदर्भ में हुआ। पणियों को तीसरे वर्ण में सम्मिलित करना आर्यों की मजबूरी थी। वह एक तिजारती वर्ग था। जिसकी सहायता के बिना विजेता समाज के लिए अपनी आर्थिक स्थिति के बारे में आश्वस्त होना मुश्किल होता।

कोई भी वर्ग कितना भी कमजोर क्यों न हो अगर उसे अन्याय की सुरंग से गुजरना पड़ता है तो अन्याय और उत्पीड़न की वेदना या पीड़ा पीढ़ी–दर–पीढ़ी हज़ारों साल तक स्थानान्तरित होती रहती है। उनके अपने मिथ बन जाते हैं। भले ही शासक वर्ग उनका नोटिस न ले। परन्तु कभी वह बिन्दु आता है जब वह उत्पीड़न सांस्कृतिक और सामाजिक विस्फोट में बदलकर लावे की शक्ल ले लेता है।

तब घृणा की वह दलदल खतरनाक हो जाती है। अत्याचार, उपेक्षा, उत्पीड़न आदि ने संस्कृतियों के बिगड़ने और बनने में अहम भूमिका अदा की है। गाँधी ने इस बात को अपने कर्मकांडमूलक संस्कारों की लीक से हटकर, गहराई के साथ समझने की कोशिश की थी। अपने ढंग से उसका समाधान निकालने का साहसपूर्ण उद्यम भी किया था। गाँधी कितने सही या कितने गलत थे यह निर्णय व्यक्तिपरक ज्यादा है। गाँधी का एक कथन है जिसका उद्धरण यहाँ दिया जा सकता है। 17 अप्रैल 1918 को 'प्रिफेस टु अंत्यज स्त्रोत' में उन्होंने लिखा थाः

''मुझे ऐसा कोई तर्क आश्वस्त नहीं करता जो अस्पृश्यता को

न्यायोचित ठहरा सके। जहाँ धर्मग्रन्थों पर स्वतः आक्रमण हो रहे हों वहाँ इस प्रथा के समर्थन में उन ग्रन्थों से उद्धरण देना ठीक वैसा है जैसा कोई अन्धा व्यक्ति उस वस्तु के अस्तित्व को नकारे जिसे वह देख न पा रहा हो। अगर हम अपने आचरण की, बौद्धिक स्तर पर रक्षा नहीं कर सकते तो धर्म–ग्रन्थों का सहारा लेकर क्या पा जायेंगे? वे तर्क और नैतिक मूल्यों से ऊपर नहीं हो सकते। अगर हम उनको इसी तरह बढ़ने देंगे तो फिर धर्म के नाम पर किसी भी छद्म को उचित ठहराया जा सकता है।''[13]

गाँधी ने दक्षिण अफ्रीका से लौटने के लगभग दो वर्ष बाद ही यह बात लिखी थी। उस समय वे भारतीय राजनीति में पदार्पण कर रहे थे। तर्क, बौद्धिकता, नैतिक मूल्यों तथा आचरण के स्तर पर यदि कोई बात आश्वस्त नहीं करती, भले ही वह दृष्टि धर्म–ग्रन्थों से ही क्यों न निकली हो, उसका सहारा लेना समाज को अँधेरे में ढकेल सकता है। अस्पृश्यता एक ऐसा ही एतिहासिक सत्य है जो हज़ारों वर्ष तक मनुष्य का मनुष्य के सामने अवमूल्यन करता रहा। गाँधी अकेला व्यक्ति है जिसने जातीय हिन्दुओं के बीच पैदा होकर उन्हीं की इस मान्यता के विरुद्ध आन्दोलन किया और इस मानसिकता पर पुनर्विचार करने के लिए इस सम्पूर्ण जातीय वर्ग को बाध्य किया।

संदर्भ

1. *माई रोड टु इंडिया* (1939), नीला क्राम कुक, फरमन, न्यूयार्क, पृ. 302।
2. *दलित इन माडर्न इंडिया*, विज़न एण्ड वेल्यूज़, 1999, संपा. एस. एम. माइकेल, विस्तार पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली।
3. *सामयिक वार्ता*, दिसंबर, जनवरी, 2000–01, 'भूमंडलीकरण के स्थानीय संस्कृतियों के उन्मूलन की कोलम्बस प्रेरणा', पृ. 22.23।
4. *ऋग्वेद*, पृ. 44।
5. वही, पृ. 50।
6. वही, पृ. 30–40।
7. वही, पृ. 55।
8. *प्रजा ही रहने दो*, नाटक, गिरिराज किशोर, संचयन, रंगार्पण, पृ. 132, आत्माराम एण्ड सन्स, नई दिल्ली।

9. *दलित इन माडर्न इंडिया.* . .विस्तार पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, पृ. 56।
10. *दलित इन माडर्न इंडिया.* . .विस्तार पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, पृ. 61।
11. *कबीर–नई सदी में* (3) वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 47।
12. वही. पृ. 47।
13. सी. डब्ल्यू. एम. जी. (वाल्यूम XIV, अक्तूबर 1907, जुलाई 1918) पृ. 345 पब्लिकेशन डिविज़न, भारत सरकार, 1965।

अस्पृश्यता एवं साहित्य-विमर्श

मेरे सामने यह प्रश्न बराबर बना था कि अस्पृश्यता और साहित्य–विमर्श की बात गाँधी के संदर्भ में उठानी चाहिये या नहीं। गाँधी का साहित्य से क्या कोई ताल्लुक है? वैसे तो गाँधी का साहित्य से भी ताल्लुक है पर यह ज़रूरी नहीं कि इस बात को सब मानें ही मानें। लेकिन गाँधी का ताल्लुक, बावजूद अनेक असहमतियों के, अस्पृश्यता के साथ सबसे गहरा है। गाँधी 1893 से 1914 तक दक्षिण अफ्रीका में थे। 1894 में जब दादा अब्दुल्ला के साथ किया गया एक वर्ष का अनुबंध समाप्त हुआ और दादा अब्दुल्ला ने अपने घर पर एक विदाई समारोह आयोजित किया तो गाँधी की नज़र 'नेटाल मर्करी' अखबार पर पड़ी। भारतीयों के मताधिकार से संबंधित एक बिल वहाँ की संसद के विचाराधीन था। गाँधी ने उस खबर को दादा अब्दुल्ला को दिखाया और कहा यह समाचार भारतीयों के ताबूत में पहली कील है। दादा अब्दुल्ला या वहाँ पर उपस्थित मेहमानों में से कोई भी उस समाचार के बारे में कुछ नहीं जानता था। गाँधी के पूछने पर सबने अपनी अनभिज्ञता दिखलाते हुए कहा कि हमारी आँख और कान तो गोरे वुकला हैं। जो वे दिखाते हैं वही देखते हैं और जो सुनाते हैं वही सुनते हैं।

गाँधी ने सीधा एक सवाल किया, ''भारतीय मूल के वे लोग जो यहीं जन्मे और अंग्रेज़ी सीखी, वे कुछ नहीं बताते?''

दादा अब्दुल्ला का जवाब था कि वे अपने को हिंदुस्तानी समुदाय का हिस्सा ही कहाँ मानते हैं। गोरे पादरियों के प्रभाव में वे अपने को भी गोरा ही मानने लगे हैं। दरअसल गैर–ईसाई भारतीय समुदाय ने भी न कभी उनसे जुड़ने की कोशिश की थी और न उन्हें अपनी

ओर आकर्षित ही किया था। गाँधी को भारतीयों और भारतीयों के बीच की यह दूरी एक तरह से अस्पृश्यता का ही एक रूप महसूस हुई थी। सामाजिक और भावनात्मक दूरियों का बढ़ते जाना ही, चाहे धर्म के कारण हो या सामाजिक असंबंधों के कारण, अंततः अस्पृश्यता का रूप ले लेती है।

डरबन पहुँचने के दूसरे दिन से ही, मजिस्ट्रेट द्वारा गुजराती फेंटा बाँधकर 'कोर्टरूम' में आने के कारण, बाहर निकाल दिये जाने पर, गाँधी को इस अस्पृश्यता का अहसास होना शुरू हो गया था। दादा अब्दुल्ला का भारतीय होने के बावजूद अपने को 'अरब' बताकर शेष भारतीयों से अलग होना भी वैसा ही था जैसा भारतीयों का ईसाई बनकर अपने को गोरों के नज़दीक मान लेना। मुसलमान भारतीय समुदाय से इसलिए अलग थे क्योंकि वे 'अरब' कहलाने के कारण सम्मानजनक स्थिति में समझे जाने लगे थे। ईसाई सत्ता वर्ग के धर्म के अनुयायी होने के कारण और भी श्रेष्ठ थे। गाँधी ने दादा अब्दुल्ला को समझाने की कोशिश की कि भारतीय व्यवसायी अंग्रेज़ी जानने वाले भारतीय ईसाइयों से अपने को अलग रखकर, तेज़ी से हो रहे परिवर्तन के साथ नहीं चल पायेंगे और न उनकी स्थिति ही यहाँ सुरक्षित रहेगी।

अलगाव और अस्पृश्यता बोधक दूरी की एक और घटना गाँधी की नज़र में और आयी जिसे उन्होंने ज़्यादा गंभीरता से लिया। भारतीय व्यवसायी और थोड़ा भी पढ़ा–लिखा वर्ग भारतीय मज़दूरों को, जिनमें दलित भी थे और गैर–दलित भी थे, उसी नज़र से देखता था जिस नज़र से गोरे देखते थे। भारत में तो कुली का मतलब था मज़दूरी करने वाला व्यक्ति। गाँधी ने अपनी आत्मकथा *सत्य के प्रयोग* के चौदहवें अध्याय 'कुली लोकेशन या भंगी टोला?' में लिखा है, ''दक्षिण अफ्रीका में हम हिंदुस्तानी लोग 'कुली' के नाम से 'प्रसिद्ध' हैं। . . . परंतु दक्षिण अफ्रीका में वह तिरस्कार सूचक है और यह तिरस्कार भंगी, चमार, पंचम इत्यादि शब्दों के द्वारा व्यक्त किया जा सकता है'' (पृ. 334)। गाँधी ने इन जाति–सूचक संज्ञाओं का शब्द रूप में ही उल्लेख या प्रयोग किया है। दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों के लिए प्रयुक्त किये जाने वाले 'कुली' शब्द की अपमानजनक अभिव्यंजना

को ही उन्होंने इन शब्दों द्वारा रेखांकित किया, जिससे भारत के लोग अपने भारतीयों की स्थिति को वहाँ के संदर्भ में समझ सकें और यह भी समझ सकें कि उन्होंने अपने ही लोगों को अपने ही देश में किस हालत में पहुँचा दिया है। उच्च से उच्च जाति का भारतीय वही है जिन्हें आप यहाँ भंगी, चमार या पंचम कहकर संबोधित करते हैं।

अस्पृश्यता के इस पक्ष को आत्मकथा के उपरोक्त अध्याय में कई तरह से और व्यापक रूप में व्याख्यायित करने का प्रयत्न किया गया है। उन्होंने तंज़ के तौर पर लिखा है कि ''हिंदुस्तान में उन लोगों को जो सबसे बड़ी समाज–सेवा करते हैं भंगी, मेहतर, ढेढ कहते हैं और उन्हें अछूत मानकर उनके मकान गाँव के बाहर बनवाते हैं।. . . इसी तरह ईसाइयों के यूरोप में एक जमाना था कि जब यहूदी लोग अछूत माने जाते थे और उनके लिए जो अलग मोहल्ला बसाया जाता था उसे घेटो कहते थे।'' (आत्मकथा, पृ. 333) उनके इस कथन में स्पष्ट ध्वनि है कि यूरोप में अब यह बंद हो गया लेकिन इस देश में अभी तक मौजूद है। हालाँकि अप्रैल 1999 में वेनस यात्रा के दौरान यहूदियों के मोहल्ले देखने को मिले। अभी तक उनको सुरक्षित रखा हुआ है। शेक्सपीयर ने भी *मर्चेंट आफ वेनिस* में यहूदियों के मोहल्ले का ज़िक्र शाइलोक के संदर्भ में किया है। दक्षिण अफ्रीका में आज भी वहाँ के काले निवासियों के लिए 'स्वेटोज़' और 'घेटोज़' हैं। दक्षिण अफ्रीका की यात्रा के दौरान भारतीय मूल के एक मंत्री ने मुझसे कहा था, ''आपके गाँधी ने हमारे लिए समस्या उत्पन्न कर दी। आप लोग तो 'ग्लोबेलाइज़ेशन' की तरफ दौड़ रहे हैं। गाँधी कहते थे ग्राम आधारित आर्थिक विकास करो। समता सबसे जरूरी है। हमारी मुश्किल यह है कि अगर गाँधी की बात नहीं मानते तो हमारे लाखों लोग जो 'स्वेटोज़' और 'घेटोज़' में रहते हैं वे कहाँ जायेंगे और अगर हम मानते हैं तो 'ग्लोबेलाइज़ेशन' की दौड़ में पिछड़ जायेंगे। बताइये हम क्या करें?'' मेरे पास इसका कोई जवाब नहीं था। इस सवाल का जवाब तो बहुत पहले हम पीछे छोड़ चुके हैं।

गाँधी ने *आत्मकथा* के उसी अध्याय में लिखा है। घेटो एक अमंगलकारी नाम समझा जाता था। गाँधी ने ईसाइयों और हिंदुओं की बराबरी करते हुए लिखा है ''हिंदुओं (सवर्ण) की तरह यह

(ईसाई) भी अपने को ईश्वर के लाडले मानते थे और दूसरों को हेय समझते थे। अपने इस अपराध की सज़ा उन्हें विचित्र और अकल्पित रीति से मिली। लगभग इसी तरह हिंदुओं ने भी अपने को संस्कृत अथवा आर्य समझकर खुद अपने ही एक अंग को प्राकृत, अनार्य, अछूत मान रखा है। इसी पाप का फल वे विचित्र रीति से – चाहे वह अनुचित रीति से क्यों न हो – दक्षिण अफ्रीका इत्यादि उपनिवेशों में पा रहे हैं।'' (पृ. 333.34)

गाँधी यहाँ तक मानते थे, ''उसमें उनके पड़ोसी मुसलमान और पारसी भी, जो कि उन्हीं के रंग और देश के हैं उनके साथ दुःख भोग रहे हैं।'' (पृ. 334)

गाँधी स्पष्टतः अस्पृश्यता की इस समस्या को भारत के संदर्भ में तो देखते ही थे, उन्होंने इसे यूरोप के संदर्भ में भी देखने का प्रयत्न किया था। ईसाई धर्म का परिप्रेक्ष्य भी उनके सामने स्पष्ट था। नतीजों से भी वे अनभिज्ञ नहीं थे। हाँ, आप यह तर्क दे सकते हैं कि अस्पृश्यता गैर–दलितों के लिए एक अनुभव हो सकता है, सामाजिक बुराई हो सकती है, पर वह दलित होना नहीं था। सदियों–सदियों तक उपेक्षा और तिरस्कार के उस दारुण दुःख को झेलते रहने ने ही दलितों को दलित बने रहने के लिए बाध्य किया। दक्षिण अफ्रीका में भी गाँधी ने अस्पृश्यता के जिस अभिशाप को भोगा उसकी अवधि अधिक से अधिक बीस वर्ष रही होगी। लाखों वर्ष के दालित्य–भोग के सामने बीस वर्ष का दालित्य उन्हें दलित नहीं बना देता। एक जन्मजात दलित, वह किसी भी स्थिति में रहे अच्छी या बुरी, दलित है। गाँधी मानते थे दलितों को दलित बनाने वाले स्वयं दलित नहीं हैं जातीय हिंदू और उनकी मानसिकता है। यह बात गाँधी ही नहीं मानते बाकी सब भी मानते हैं। हज़ारों वर्षों में अस्पृश्यता का यह पहाड़ इतना विशालकाय हो गया कि पूरा समाज उसकी छाया से ढक गया। इस पहाड़ को बढ़ाने वाला है जातीय दंभ, जो जातीय हिंदुओं की विकृत मानसिकता का अटूट हिस्सा बनता गया। सबसे पहले अपने ही समाज के अंग को सामाजिक, आर्थिक और मनोवैज्ञानिक स्तर पर इसलिए तोड़ा जिससे वह उस पर शासन कर सके, उसका मनमाना उपयोग और उपभोग कर सके, अपना

गुलाम बना कर रख सके, उसके जीवन को यातनामय बनाकर उसमें आनंद ले सके। यह प्रवृत्ति स्वार्थपरक तो थी ही। परदुःख में सुख लेने वाली मानसिक रुग्णता भी थी। विश्व भर में परदुःख में सुख का उपभोग करने वाली मानसिकता उसी वर्ग की रही जो अपने को शासक के रूप में स्वीकार करा सका। शासक को शासक वही लोग बनाते हैं जो अपने वर्चस्व को दूसरे के वर्चस्व के सामने समर्पित कर देते हैं। या ऐसा करने के लिए बाध्य कर दिये जाते हैं। यह प्रवृत्ति यूरोप में भले ही कम हो गई हो पर एशिया के अनेक देशों में आज भी मौजूद है। जलकुम्भी की तरह हर खूँट में फैली हुई है। जन आक्रोश निरंतर बढ़ रहा है।

इस पूरे संदर्भ में यह बात सोचने योग्य है कि इसकी काट क्या है? यहाँ मैं रमणिका गुप्ता की पुस्तक *दलित चेतना : साहित्यिक एवं सामाजिक सरोकार* का उल्लेख करना चाहूँगा। उन्होंने उस पुस्तक में 'धर्मांतरण कितना सार्थक' अध्याय में पृ. 46 पर बाबा साहब अंबेदकर का उद्धरण देते हुए लिखा है, ''हिंदू धर्म की विकृतियों से मुक्ति पाने के लिए उन्होंने तीन बातें कहीं – शिक्षित हो, संघर्ष करो, संगठित हो।'' उन्होंने अपनी पुस्तक में बाबा साहब के अत्यधिक सकारात्मक सोच को रेखांकित किया है। भारतीय समाज में और खासतौर से दलित वर्ग में शिक्षा का न होना उसके दबे–कुचले रहने का सब से बड़ा कारण था और है। उनको ऐसा बनाया गया। मैं बार बार कहता हूँ, उसके लिए जातीय हिंदू उत्तरदायी हैं। उसका असर ब्राह्मणेतर जातियों पर भी पड़ा। शिक्षा, संगठन और संघर्ष किसी भी तरह की गुलामी से मुक्ति दिलाने की एक मात्र राह है। दलितों पर होने वाला अत्याचार संसार के उन भयावह अत्याचारों में से है जिसने मनुष्य को मनुष्य बनकर रहने के अधिकार से हज़ारों वर्षों तक वंचित रखा। 'काले साहित्य' में इसी तरह के भयावह उदाहरण हैं। बेडविन की 'द मैन' इस संदर्भ में दिल दहलाने वाली कहानी है। उसका मैंने 'हंस' के लिए 'मर्द' नाम से अनुवाद किया था।

इसी संदर्भ में गाँधी का उल्लेख करना ज़रूरी है। समय या इतिहास किसी व्यक्ति या वर्ग की मान्यताओं और काम को इस आधार पर स्वीकार या अस्वीकार नहीं करता कि वे वर्ग या व्यक्ति

विशेष द्वारा किये गये हैं। उसका समीक्षा का अपना तरीका होता है। समीक्षा का यह अंकुश बड़े से बड़े समाज और व्यक्ति की गर्दन पर बना रहता है। 1901 में दक्षिण अफ्रीका से भारत जाते समय उनका जहाज़ मॉरिशस की तरफ मुड़ गया था। कई दिन तक एस. एस. नौशेरा को बंदरगाह पर खड़े रहना पड़ा था। जब लोगों को पता चला कि गाँधी सपरिवार यात्रा कर रहे हैं तो गुलाम मुहम्मद नाम के एक मुस्लिम व्यवसायी ने उन्हें अपने घर चलकर रहने के लिए राज़ी कर लिया। अंतिम दिन उनके सम्मान में रात्रि भोज का आयोजन किया गया। उस भोज में दिये गये अपने संक्षिप्त भाषण में गाँधी ने भी लगभग यही कहा था, ''बच्चों को शिक्षित करो. . . संगठन अस्तित्व के लिए जरूरी है।'' गाँधी और डॉ. अंबेदकर की बातों से लगता है जहाँ शोषण, उत्पीड़न, उपेक्षा और अपमान है वहाँ शिक्षा और संगठन सर्वाधिक आवश्यक हैं। हालाँकि गाँधी के उस वक्तव्य को मॉरिशस के फ्रेंच और अंग्रेज़ी अखबारों ने अलग–अलग रंग देकर प्रस्तुत किया। दक्षिण अफ्रीका में प्रतिष्ठान–विरोधी रुख के कारण गाँधी की एक विद्रोही छवि बन गई थी। उनके इस वक्तव्य को भी कुछ अखबारों ने यही माना कि गाँधी मॉरिशस के भारतीयों को राजनीति में भाग लेने के लिए प्रेरित करके चले गये। कुछ ने यह भी लिखा कि उन्होंने भारतीयों के बच्चों को पाश्चात्य शिक्षा देकर वहाँ के गोरों की बराबरी करने की सलाह दी। शायद हर जगह सवर्ण यानी वर्चस्ववान व्यक्ति शंकालु होने के कारण सीधी बात के भी उल्टे–सीधे अर्थ निकालकर स्वयं भी परेशान होता है और दूसरों को भी करता है। यह एक विचित्र बात है कि गाँधी ने दक्षिण अफ्रीका और मॉरिशस में 'कुली' वर्ग को घृणा और अस्पृश्यता की जो यंत्रणा भोगते हुए देखा तो उन्हें उसका, सन् 1901 में भी और बाद में भी, शिक्षा ही एक मात्र प्रतिकार लगा। दक्षिण अफ्रीका जाने पर वहाँ के एक एटॉर्नी, डॉक्टर और पत्रकारों से बात हुई तो उन्होंने माना कि अगर गाँधी ने वहाँ पर भारतीय छात्रों की पढ़ाई पर ज़ोर न दिया होता और शिक्षा संबंधी न्यास स्थापित न कराया होता तो हम लोग आज भी कुली ही होते। बाबा साहब अंबेदकर ने भी जातीय हिंदुओं के अत्याचार से त्रस्त दलित वर्ग को बीसवीं सदी

के संभवतः तीसरे दशक में यही सलाह दी थी – शिक्षित हो, संघर्ष करो और संगठित हो।

गाँधी तो स्वयं दक्षिण अफ्रीका में और बाद में भारत में, कुलियों व दलितों के लिए अहिंसक संघर्ष कर ही रहे थे। उस काल के भारतीय कुलियों या दलित वर्ग के जीवन से संबंधित, संयोजित रूप में, कम साहित्य उपलब्ध है। अब उस पर काम हो रहा है। गाँधी की लिखी पुस्तक *दक्षिण अफ्रीका में सत्याग्रह* या *आत्मकथा* या विदेशियों की पुस्तकों में उनका संदर्भ ज़रूर उपलब्ध है। डॉ. अंबेदकर ने दलितों के बारे में तो काफी लिखा है। गाँधी और डॉ. अंबेदकर के हस्तक्षेप से ही दलित वर्ग में सक्रियता आयी। आंदोलन का रूप लिया। डॉ. अंबेदकर की प्रेरणा से दलित वर्ग के मराठी लेखकों ने अपनी आत्मकथायें लिखीं। दलित जीवन की जिस त्रासदी का 'थर्ड पर्सन एकाउन्ट' मिलता था या जातीय हिंदू या अन्य वर्गों के द्वारा किंवदंतियों के रूप में रंगी–पुती चीज़ें सुनने को मिलती थीं अब अनुभवजन्य व्यक्तिगत ब्यौरा इन आत्मकथाओं में उपलब्ध है। जीना, सुनना और पढ़ना ये तीनों ही भिन्न स्थितियाँ हैं। जीने को वही जानता है जो जीता है। पढ़ना कई बार जिये को साकार कर देता है। यह लेखन–शक्ति पर भी निर्भर करता है। सुनना या तो यादों में रह जाता है या विस्मृत हो जाता है। डॉ. अंबेदकर का मानना था, ''आम आदमी की महत्ता से प्रेरणा लेकर लेखकों को लेखन करना चाहिये . . . ''तत्कालीन आम धारणा से यह एक महत्त्वपूर्ण विचलन था कि आम आदमी की भी अपनी महत्ता होती है। पहले ऐसा नहीं था। महत्ता श्रीमंतों की ही होती थी। इस तथ्य का प्रेमचंद ने भी अपनी कहानियों में साक्षात्कार किया और कराया है। डॉ. अंबेदकर ने आगे कहा है ''. . . अपनी साहित्य की रचनाओं में उदात्त जीवन मूल्यों और सांस्कृतिक मूल्यों को परिष्कृत कीजिये। अपना मत सीमित मत रखिये। अपनी कलम की रोशनी को इस तरह से परिवर्तित कीजिए कि गाँव, देहातों का अँधेरा दूर हो। यह मत भूलिये कि अपने देश में दलितों और उपेक्षितों की दुनिया बड़ी है। उसकी पीड़ा और व्यथा को भलीभांति जान लीजिए और अपने साहित्य द्वारा उनके जीवन को उन्नत करने का प्रयास कीजिए।

उसमें सच्ची मानवता निहित है।'' (*दलित साहित्य का सौन्दर्य शास्त्र*, डॉ. शरण कुमार लिंबाले, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 54) अंबेदकर की उदात्तता और सांस्कृतिक, मूल्य परंपरागत उदात्तता और सांस्कृतिकता से भिन्न है। उदात्तता उन लोगों की भी है जो पीड़ा का साक्षात्कार अंतिम बिंदु तक कर चुके हैं पर टूटे नहीं। सांस्कृतिक सहनशीलता द्वारा भी दमन का प्रतिकार संभव है और वह उससे जूझना भी सिखाती है। गाँधी इस बात को हमेशा मानते रहे। गाँव और देहातों के अंधकार को दूर करने के प्रश्न को उन्होंने आज़ादी के बाद भारत के प्रधानमंत्री नेहरू के सामने उठाया था। गाँव ही, चंद संपन्न और विशिष्ट वर्गों को छोड़कर, उसी आदमी का प्रतिनिधित्व करते थे और हैं जिस आम आदमी की महत्ता की बात डॉ. अंबेदकर करते हैं। उनमें दलित हैं, मज़दूर हैं, कारीगर हैं, किसान हैं, महिलायें हैं. . . . हर वह व्यक्ति है जो जिंदगी को स्वतः जीने का प्रयत्न करते हुए, दूसरों की सनकों और रूढ़िवादिता पर अपने जीवन को होम करता रहा है। नेहरू ने गाँवों का संज्ञान लेने से इंकार कर दिया था। वे नगरों के विकास में विश्वास करते थे। जब गाँधी ने हरिजन आंदोलन के संदर्भ में देश भर का दौरा किया था तब भी नेहरू ने यह कहा था कि आज़ादी की लड़ाई में गाँधी जी का हरिजन आंदोलन अवांतर हस्तक्षेप है जबकि ''गाँधी ने स्वायत्त ग्राम समाजों की कल्पना की थी। उस कल्पना में गाँव ही स्वायत्त नहीं थे, गाँव में रहने वाली, अलग–अलग धंधों से जुड़ी बिरादरियाँ भी स्वायत्त थीं।'' (*गाँधी अंबेदकर, लोहिया . . .*', डॉ. रामविलास शर्मा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 389)

जहाँ तक साहित्य के बारे में अंबेदकर के मत का प्रश्न है डॉ. लिंबाले द्वारा दिये गये उपरोक्त उद्धरण से दो बातें स्पष्ट होती हैं कि उन्होंने दलित साहित्य को आम आदमी की महत्ता से प्रेरित माना है। दलितों और उपेक्षितों की दुनिया बड़ी है इसलिए उनकी पीड़ा और व्यथा को भलीभाँति जान लेने का आह्वान किया। यह बात रेखांकित करने योग्य है कि बाबा साहब का ज़ोर दलितों की पीड़ा और व्यथा को जानने पर है। जानना किसके लिए ज़रूरी है? मुख्यतः उसके लिए जो उसे सीधे जी नहीं रहा है। जो जी रहा है उसे जानना

नहीं है वह तो उसका भोक्ता है। अगर कर सकता है तो उसे अभिव्यक्त करना है। यानी दलित साहित्य से जुड़ने की गुंजायश वे गैर–दलितों के लिए भी बनाते हैं बशर्ते कि वे उसे गहरायी से जानने और उससे जुड़ने के लिए तैयार हों। वे उन्हें दलितों के बारे में लेखन के दायित्व से बरतरफ नहीं करते। बल्कि यह भी कहते हैं कि अपना मत सीमित मत रखिये। आप यह कह सकते हैं कि प्रथमदर्शी यानी भोक्ता का अनुभव अधिक प्रामाणिक होगा। लेकिन जब तक किसी अनुभव को एक लेखक स्वानुभूत स्तर पर नहीं ले आता या जीता तब तक अभिव्यक्ति प्रामाणिक नहीं होती। खैर, आप उसे स्वानुभूति की कोटि में न रखें पर क्या सम–स्वानुभूत भी नहीं मानेंगे? यह कॉपीराईट का प्रश्न नहीं बल्कि उस अनुभव में डूबने का प्रश्न है। जो जितना डूब सके!

खैर, यह प्रश्न बिल्कुल अलग है। सहमति–असहमति दोनों ही संभव हैं। असल बात है मराठी और हिंदी में दलित लेखकों द्वारा लिखी जा रहीं आत्मकथाओं की। उनका सीधा संबंध उस संत्रास से है जिसे लेखको ने स्वयं भोगा है। उनकी गहरी संवेदना और अभिव्यक्ति उसका आईना है। त्रासद अनुभव और संवेदना का युग्म उन्हें प्रामाणिकता प्रदान करता है। डॉ. लिंबाले ने *दलित साहित्य का सौन्दर्य शास्त्र* में पृ. 37 पर तर्कपूर्ण ढंग से लिखा है, ''अछूत के अनुभवों की ओर से आँखें बंद नहीं की जा सकतीं क्योंकि ये अनुभव हज़ारों मनुष्यों के हैं और हज़ारों वर्षों से चले आ रहे हैं। दलित साहित्य इस अस्पृश्यता में से निर्मित हुआ साहित्य है। यही इस साहित्य की विशेषता है।'' मैं एक बात और जोड़ना चाहूँगा कि बावजूद इसके कि ये आत्मकथायें हैं, पर आत्मकथायें हज़ारों वर्षों से घटित हो रहे शोषण और संत्रास की एक व्यक्ति (लेखक) के माध्यम से निसृत जातीय वक्तव्य भी हैं।

डॉ. लिंबाले दलित साहित्य को ग्रामीण साहित्य का हिस्सा नहीं मानते। दलित लेखकों द्वारा दलित चेतना से दलितों के विषय में किया गया लेखन मानते हैं। वे मानते हैं कि ''दलित साहित्य अनुभव, वेदना और विद्रोह के रसायन से तैयार होता है।'' इसके साथ उनका यह भी मानना है ''उसका लक्ष्य है दलित समाज को

गुलामी से अवगत कराना और सवर्ण समाज के समक्ष अपनी व्यथा और वेदनाओं का बयान करना।'' (पृ. 29) उनका यह वक्तव्य एक सवाल उठाता है, दलित साहित्य सवर्ण समाज के समक्ष अपनी व्यथा और वेदनाओं का बयान करने का माध्यम क्यों हो? वे ऐसा क्यों चाहते हैं? उससे उन्हें क्या मिलेगा? जिस समाज ने उन्हें गुलाम बना कर रखा, प्रताड़ित किया, अपमानित किया, उनका शोषण किया . . . उस 'बयान' से उस वर्ग पर क्या कोई असर पड़ेगा? वह वर्ग तो स्वयं शोषण की उस मानवीय प्रक्रिया में महत्त्वपूर्ण प्रतिभागी था। प्रतिभागी हर उस प्रक्रिया का ज़िम्मेदार होता है, चाहे नकारात्मक हो या सकारात्मक, जो समाज को किसी न किसी रूप में प्रभावित करती है। वह उस 'बयान' से ही क्या समझेगा जब वह शोषण की प्रक्रिया का खलनायक या प्रतिभागी बनकर कुछ नहीं समझ पाया। हाँ, उस दलित समाज को गुलामी से अवगत कराने की बात समझ में आती है, जो लेखक नहीं है परंतु भोक्ता है। उससे वह संगठित होगा, शिक्षित होगा, प्रतिरोध करने की स्थिति में आयेगा। यहाँ एक सवाल और उठता है—क्या ग़ैर—दलितों द्वारा दलितों के बारे में किया जा रहा लेखन किसी सीमा तक यह काम करने की स्थिति में नहीं हो सकता? इसका जवाब शायद होगा 'नहीं'। क्योंकि वह दलित लेखन का हिस्सा नहीं है और दलित लेखक साहित्यिक परंपरा को नकारता है। लेकिन एक काम तो कर ही सकता है कि वह सवर्णों को उनकी आँखों में उँगली डालकर यह तो दिखा ही सकता है कि हज़ारों वर्षों तक वे क्या करते रहे? अगर दलित मर्म को समझ रहे हैं तो समझना उन्हें भी पड़ेगा। क्योंकि जैसे दलित लेखक गैर—दलित, दलित लेखन को अस्पृश्य मानते हैं, या अनुपयोगी मानते हैं, सहानुभूति का साहित्य मानते हैं, जिसकी उन्हें जरूरत नहीं, सवर्ण पाठक भी इसी मानसिकता से लगातार रुग्ण रहा है।

इस संदर्भ में गाँधी की भूमिका का उल्लेख किया जा सकता है। गाँधी ने अपने पूरे 'हरिजन आंदोलन' के दौरान और कुछ किया हो या नहीं, दलितों को इकाई के रूप में पहचान दी, जाग्रत किया और सवर्णों को उनके कुकृत्यों का एहसास कराया। उन्हें चेताया कि तुम इस पाप से बच नहीं पाओगे। वही वर्ग सबसे ज्यादा पूर्वाग्रहों से

ग्रसित था। क्या आज नहीं? इसमे कोई शक नहीं कि डॉ. अंबेदकर गाँधी जी के अछूतोद्धार कार्यक्रम से प्रसन्न नहीं थे। रणनीति की दृष्टि से भी और विचार वैभिन्य की दृष्टि से भी। उनका यह सोचना सही था। हालांकि *गाँधी, अंबेदकर, लोहिया और भारतीय इतिहास की समस्याएँ* की भूमिका (पृ. 13 रोमन) में डॉ. राम विलास शर्मा ने लिखा है, ''गाँधीजी ने अछूतों में जो काम किया, उसके महत्त्व का पता इस बात से चलता है कि अंबेदकर अक्सर अछूतों पर अत्याचार की कहानियाँ सुनाने के लिए गाँधी जी के 'हरिजन पत्र' से अथवा गाँधी जी के अनुयायियों के पत्रों से उद्धरण दिया करते थे।'' समाचार पत्र में प्रकाशित सामग्री का उपयोग करने का अधिकार हर पाठक को होता है। लेकिन इससे यह भी पता चलता है गाँधी उन सब तथ्यों और स्थितियों से अपने को वाबस्ता रखते थे जो दलितों के साथ अन्याय या शोषण के रूप में 'देश' के अन्दर घटित हो रही थीं। यह भी कहा जा सकता है कि 'हरिजन' डॉ. अंबेदकर जैसे शीर्ष व्यक्ति या नेता की, इस तरह की सामग्री छाप कर एक तरह से सहायता करता था। गाँधी जी के साथ एक विशेषता और थी, वे कार्यकर्त्ता थे। उनकी रसाई जड़ों तक थी। अंबेदकर दार्शनिक और विचारक थे। हालाँकि उन्होंने अनेक आंदोलनों में सक्रिय भाग लिया था और समाज में जाग्रति पैदा की थी।

भले ही डॉ. अंबेदकर गाँधी जी के अछूतोद्धार कार्यक्रम से असहमत हों परंतु 'हरिजन' पत्र अछूतोद्धार के क्षेत्र में सार्थक हस्तक्षेप था। अस्पृश्यता के विरुद्ध जनमत तैयार करने का प्रभावी माध्यम बन गया था। सामान्य जन में, चाहे दलित हों या गैर–दलित, जाग्रति उत्पन्न कर रहा था। उनमें आक्रोश भर रहा था। भले ही वह अहिंसक हो। डॉ. रामविलास ने यह भी लिखा है, ''जातिप्रथा के संबंध में अंबेदकर और गाँधी एक दूसरे के ज्यादा नज़दीक हैं। इन दोनों ने अछूतों पर विशेष ध्यान दिया था।'' (पृष्ठ वही) किन्हीं कारणों से उनकी इस बात को न भी माना जाये तो भी इस बात से तो सहमत हुआ ही जा सकता है कि उस समय की इस पत्रकारिता का सवर्ण–दलित विमर्श में गहरा हस्तक्षेप था। 'हरिजन' ही एक ऐसा मुख्य पत्र था जो उस समय 'हरिजनप्रवक्ता' के रूप में व्यापक स्तर पर काम कर

रहा था। गाँधी जी के कारण कहिये या उसकी अपनी साख कहिये, उसने समाज में पैठ बना ली थी। उसकी फाइलें विदेशों में सुरक्षित हैं और उन्हें अछूतोद्धार के क्षेत्र में प्रामाणिक दस्तावेज़ माना जाता है। भारत में भी वे एक प्रामाणिक दस्तावेज के रूप में स्वीकृत हैं।

भारतीय समाज, खासतौर से जातीय हिंदू समाज, जिसके कारण देश में दालित्य पनपा और आज भी अपने विकृत रूप में मौजूद है विचित्र और परस्पर विरोधी मानसिकताओं का पुंज बनकर रह गया है। यह सब हजारों वर्षों से चले आ रहे मानसिक और मनोवैज्ञानिक अवरोधों का प्रतिफल है। ये मानसिक ग्रंथियाँ ही विभिन्न स्तरों पर अपने को सही साबित करती हुईं दालित्य को बढ़ाती ही नहीं गईं उसे अस्पृश्यता और दमन का शिकार भी बनाती गईं। इसी का फल था कि दलितों को भी यह समझाया गया कि दालित्य कर्मफल है। इस मान्यता का विरोध दलितों में भी था। दलित भक्तों ने यह काम भक्ति के माध्यम से किया रविदास जैसे दलित संत अपने इष्टदेव के सवर्ण भक्तों से अधिक निकट थे। मीरा जैसी राज परिवार से जुड़ी क्षत्राणी ने अपने जातीय अहंकार को छोड़कर उनका शिष्यत्व ग्रहण किया था। लेकिन अभिमानी सवर्णों की जड़ चेतना में कोई अंतर नहीं पड़ा। 1914 में 'सरस्वती' में छपी हीरा डोम की कविता 'अछूत की शिकायत' इसका उदाहरण है। दुःख और दीनता के साथ–साथ उसमें गुस्सा भी है और प्रकारांतर से कर्मवाद का विरोध भी हैः

''पनही से पिटि–पिटि हाथ गोड़ तुड़ि दैलें
हमनी के एतनी काही के हलकानी?''

आधुनिक मराठी कवि शंबूक ने सीधे ही लिखाः

''पूर्व जन्म का फल बताकर
नियति के बहाने
सदियों से मेरी ज़िंदगी का शोषण किया
मेरी बुद्धि पर कील ठोंकी. . .?

ज्ञान–विज्ञान की परिधि से हज़ारों वर्षों तक बाहर धकेले रखने का अर्थ ही बुद्धि पर कील ठोंकना था। इस विरोध और गुस्से के बीच भी सवर्ण विमर्श उनकी इस भावना को पुख्ता ही करता गया। वर्तमान दलित लेखन इस दृष्टि से इस मानसिकता के विरुद्ध एक सार्थक और विद्रोहात्मक आंदोलन है। रमणिका गुप्ता ने 'दलित कहानियों का यथार्थ' निबंध में लिखा है, ''दलित साहित्य परिवर्तन के लिए लिखा जाने वाला साहित्य है। यह एक बहुत विशाल समुदाय के सामाजिक अधिकार के लिए संघर्षरत, अनुबद्ध साहित्य है।'' (*'दलित चेतना. . .'* रमणिका गुप्ता, पृ. 93)

भाषायी साहित्य के क्षेत्र में एक कहावत प्रचलित है। साहित्य को पढ़ने की प्रवृत्ति का क्षय होते जाने से उसका गहरा ताल्लुक है। लेखक ही लिखता है और लेखक ही पढ़ता है। यह कठिनतम स्थिति है। दलित साहित्य भी संभवतः इस मानसिकता से अछूता नहीं। 'अक्करमाशी' की भूमिका में डॉ. लिंबाले ने पृ. 12 पर लिखा है, ''दलित आत्मकथा मध्यवर्गीय पाठक पढ़ते हैं। जिनके लिए लिखा जाता है, वे पढ़ते नहीं, यह अर्धसत्य है। कारण, जिन के लिए लिखा जाता है वह समाज आज भी अशिक्षित है।'' यह दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति दलित और गैर–दलित दोनों के द्वारा लिखे जाने वाले साहित्य पर समान रूप से लागू होती है। मॉरिशस और दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों ने गाँधी की बात को शायद ज़्यादा माना। वहाँ सामान्य रूप से भारतीयों के बीच शिक्षा का प्रतिशत कहीं ज़्यादा है। भारत में गाँधी और अंबेदकर दोनों ही पढ़ने–लिखने पर ज़ोर देते रहे। सवर्णों के स्कूल तो थे ही हरिजन 'स्कूल' भी खोले गये। परंतु पढ़ने–पढ़ाने की स्थिति अस्पृश्यता की मार ने सुधरने नहीं दी। हालाँकि तथाकथित सवर्णों में भी शिक्षा बहुत कम है। परंतु अवर्णों से ज़्यादा है। डॉ. अंबेदकर ने तो स्पष्ट रूप से कहा था कि हिंदू धर्म की विकृतियों से मुक्ति पाने के लिए ''शिक्षित हो, संघर्ष करो और संगठित हों।'' इसका असर पड़ा तो महाराष्ट्र पर। वहाँ ज़रूर दलितों ने पढ़ा और सवर्ण कुचक्र और कुरीति के विरुद्ध कलम उठायी। एक तरह से उसका नतीजा है कि हिंदी क्षेत्रों में भी यह जाग्रति आई। डॉ. धर्मवीर, जयप्रकाश कर्दम, पुरुषोत्तम सत्यप्रेमी,

श्यौराज सिंह 'बेचैन', कँवल भारती, मोहनदास नैमिशराय आदि प्रबुद्ध लेखक अपनी बात ज़ोरदारी से कह पा रहे हैं। हालांकि हिंदी प्रदेशों में पढ़ा–लिखा वर्ग अन्य कई प्रदेशों से कम है। यही कारण है कि विषम सामाजिक परिस्थितियों को बदलने की दिशा में साहित्य का हस्तक्षेप न्यूनतम है। परिवर्तन का जितना सशक्त स्वर साहित्य में है समाज में उसकी गूँज उतनी नहीं है। गाँधी ने अपनी सीमित पत्रकारिता के माध्यम से परिवर्तन की इस प्रवृत्ति को जितना बल उस ज़माने में दिया था, विचित्र बात है कि वर्तमान मीडिया के द्वारा समाज में इतनी प्रभावी भूमिका निभाने के बावजूद कुछ महत्वपूर्ण क्षेत्र नितांत अछूते हैं। समाज में हो रहे इतने बड़े सामाजिक परिवर्तन के प्रति, इतने बड़े जनतंत्र में मीडिया इतना असंवेदनशील हो यह आश्चर्य की बात है। एक अंग्रेज़ ने लंदन में पूछा था कि वह कौन सा मीडिया या तंत्र था कि गाँधी एक बात बम्बई, दिल्ली या हिंदुस्तान के किसी नगर में कहते थे और अगले दिन पूरा विश्व जान जाता था? विश्व अछूतोद्धार आंदोलन के बारे में सबसे अधिक गाँधी के वक्तव्यों और कार्यक्रमों की रिपोर्ट से अवगत हुआ था। मीडिया का अगर आज इस दृष्टि में थोड़ा–बहुत हस्तक्षेप है तो राजनीतिक दृष्टि से है। आरक्षण के प्रति अमुक पार्टी ने यह कहा, अमुक पार्टी की सरकार ने प्रतिशत इतना बढ़ाया। इस बारे में न कोई जनगणना होती है और न परिणामों का विश्लेषण कि उसका गुणात्मक परिवर्तन कितना हुआ और कितना होने की उम्मीद है। इस तरह के विश्लेषण जाग्रति भी उत्पन्न करेंगे और सामाजिक दायित्व का निर्वाह भी होगा।

साहित्य के क्षेत्र में भी स्थिति बहुत बेहतर नहीं। सवर्ण पाठकों की अपनी सीमायें हैं। वे अव्वल तो दलित साहित्य को पढ़ते नहीं। वहाँ भी एक किस्म की छुआछूत है। अगर पढ़ते हैं तो वह उसे अपने गलत–सही मानदण्डों पर तोलने की कोशिश करते हैं। वे उन परिस्थितियों का विश्लेषण नहीं करना चाहते जिन्होंने उस साहित्य की रचना की स्थिति उत्पन्न की। वैसे हालात पैदा किये और गहरी प्रामाणिकता दी। सवर्णों में एक दूसरा वर्ग भी है जो पढ़ता है, पसंद करता है उसके जाँचने–परखने के मानदंड उन मानदंडों से अलग

हैं, जो रूढ़िगत हैं। यही नहीं वह ज़बान की लपालपी को छोड़कर रचनात्मक हिस्सेदारी भी करना चाहता है। लेकिन उसका दलित न होना आड़े आता है। पढ़ो तो सही, पर लिखो नहीं। दलित न होना ही दलित संबंधी लेखन की परिधि से बाहर कर देता है। जो लिखा जाता है वह सहानुभूति के दायरे में रखा जा कर प्रश्नचिन्ह्यों के घेरे में आ जाता है। यह सही है कि सहानुभूति कोई नहीं चाहता। लेकिन चाहे दलित लेखक हो या गैर दलित, लेखन ज़िंदगी के प्रवाह में एक जिम्मेदार और रचनात्मक हस्तक्षेप होता है। वह केवल सहानुभूति ही नहीं बाँटता बल्कि रचनात्मक स्तर पर उस पीड़ा से भी गुज़रता है। कोई भी अनुभव संवेदना का अभिन्न अंग बनकर ही अभिव्यक्त होता है।

एक और कठिनाई है। गैर–शिक्षित वर्ग अभी दुविधा में है। सवाल है जो परिवर्तन साहित्य के क्षेत्र में देखने को मिलता है क्या उस परिवर्तन की हवा का संस्पर्श उस वर्ग तक भी पहुँच रहा है? इस दुविधा का क्या कारण है? कई प्रकार की ग्रंथियाँ है। सबसे बड़ा सवर्ण हस्तक्षेप, दूसरा रूढ़ियाँ, तीसरा जातिवाद। जातिवाद वाली ग्रंथि सुलझ सकती थी। लेकिन सुलझायी नहीं गई। सवर्णों की तो यह देन है। दलितों और पिछड़े वर्गों में भी इसकी जड़ें काफ़ी गहरी हैं। जब मैं प्रेमचंद की कहानियाँ पढ़ता हूँ तो मुझ जैसे जाने कितनों के दिलों में सवर्ण मानसिकता को लेकर एक वितृष्णा पहले भी पैदा होती थी और आज भी होती है। वही वितृष्णा घृणा का रूप ले लेती है। अब उसका वह रूप विद्रोह वाला हो गया है। लेकिन विद्रोह–विद्रोह में अंतर होता है। प्रेमचंद के लेखन ने सवर्ण मानसिकता के प्रति गहरी जुगुप्सा उत्पन्न करने का काम किया था। गाँधी का अछूतोद्धार आंदोलन उनके इस लेखन का प्रेरक है। गाँधी ने ऐसे अनेक सवर्ण लेखकों को सवर्ण मानसिकता के विरुद्ध साहित्य से जोड़ा था। यह बात अलग है कि कौन कितना जुड़ पाया। उनका लेखन इस मानसिकता के विरोध में एक सार्थक हस्तक्षेप था। प्रेमचंद के अलावा, जैनेंद्र कुमार, मैथिलीशरण गुप्त, सियारामशरण गुप्त, भवानी प्रसाद मिश्र, वष्णु प्रभाकर आदि। बंगाल और दक्षिण में भी अनेक लेखक इस परिवर्तन से प्रभावित हुए। तारा बाबू, सतीनाथ

भादुड़ी आदि बंगाल में। दक्षिण में तो अनेक हैं। कर्नाटक में ही शिवराम कारंत, अनंतमूर्ति आदि का नाम उल्लेखनीय है। महात्मा फुले और स्वामी नारायण गुरु ने क्रमशः महाराष्ट्र और दक्षिण में दलित संघर्ष को लेकर लोगों को जगाया था। उत्तर भारत, दक्षिण में तमिलनाडु आदि, बंगाल, गुजरात में सवर्ण मानसिकता को बदलने में अछूतोद्धार आंदोलन का गहरा हस्तक्षेप था। इस बात को लगातार समझाने का प्रयत्न किया गया था कि वे आज भी अमानवीय संसार में रह रहे हैं। बिहार में आये भूकंप के संदर्भ में गाँधी जी का यह वक्तव्य कि दलितों के प्रति सवर्णों के अमानवीय व्यवहार का फल है, काफी बड़ी उत्तेजना का कारण बना था। उन्हें दकियानूसी, अंधविश्वासी पता नहीं क्या–क्या कहा गया था। लेकिन अब विश्लेषण करने पर पता चलता है कि एक व्यक्ति जो अन्दर से वेदांती है, अराजकतावादी है, अनास्थावादी है वह इतना दकियानूसी नहीं होगा कि भूकंप जैसी मानवीय त्रासदी को, हज़ारों वर्षों से चले आ रहे जातीय भेद का नतीजा बता कर अपने अंधविश्वास का प्रमाण देगा। गांधी जानते थे कि इस देश के लोग खासतौर से जातीय हिंदू, कर्मवाद और उसके फल में विश्वास करते हैं। उनका यह फतवा ज़रूर उनके मन को बदलने में कुछ सहायता कर सकता है। आप यह कह सकते हैं कि ऐसे फतवे अंधविश्वास बढ़ाते हैं। धार्मिक हल्कों में फतवे मन बदलने का एक महत्त्वपूर्ण उपकरण भी हैं।

गैर–दलित लेखकों के दलित लेखन को नकारने या उसकी प्रामाणिकता को घटाने के लिए कई तर्क दिये जाते हैं। उनमें से एक तर्क काफी प्रभावी है यानी प्रसव पीड़ा को एक पुरुष, न उस रूप में महसूस कर सकता है और न अभिव्यक्त कर सकता है जिस तरह एक महिला करती है। इसी तरह दलित लेखन है। साहिल पर बैठकर नज़ारा देखने वाले मझधार के संकट को क्या समझेंगे? यह बात शत–प्रतिशत सही है। स्वाभाविक है जो लोग उस दारुण पीड़ा, अपमान और शोषण को सदियों से भोग रहे हैं और अब जब वे खुद लिख रहे हैं तो उनका लेखन ज़्यादा प्रामाणिक होगा या उन लोगों का जो उस उत्पीड़न के स्वयं नायक थे? यहीं पर एक प्रश्न और उठता है गैर–दलित लेखन के संदर्भ में दिये गये उपरोक्त तर्क

का न यह नकार है, न हो सकता है। क्या एक बाँझ स्त्री जो बच्चे को जन्म तो नहीं देती, न दे सकती है, परंतु शिशु–जन्म, उसके लालन–पालन को अपने अंतर्मन में वह जीवन भर जीती है। कई बार प्रसव की कल्पना करके उस स्त्री से भी ज़्यादा दारुण पीड़ा और जन्म देने के काल्पनिक सुख से गुज़रती है जो एक बार प्रसव से निवृत्त होकर जीवन भर माँ होने का सुख भोगती रहती है। लेखक बहुत सी परिस्थितियों का स्वयं भागीदार नहीं होता परंतु वह उसे अंतरमन में जीते–जीते इतना जी लेता है कि उसके अपने अनुभव का हिस्सा हो जाता है। यह न तर्क की बात है न आत्मौचित्य साबित करने की। एक प्रक्रिया मात्र है जिसे अस्वीकार भी किया जा सकता है और स्वीकार भी।

एक और बात है, धर्म–परिवर्तन मनुष्य के ऊपर से एक ठप्पा उतार कर दूसरे धर्म का ठप्पा लगाता है। वह मुसलमान, हिंदू, बौद्ध, ईसाई कोई भी हो सकता है। पर संवेदना के स्तर पर क्या धर्म परिवर्तन के साथ ही उसका आमूल–चूल परिवर्तन हो पाता है? धर्म–परिवर्तन आंतरिक परिवर्तन की कोई प्रतीति नहीं है। जैसे प्रेमी–प्रेमिका रोमांस के दौरान एक दूसरे की कमियाँ नहीं जान पाते, पति–पत्नी के रूप में साथ रहने पर कमियाँ सामने आती हैं। तब वे उनके साथ सह–अस्तित्व स्थापित करने के लिए बाध्य होते हैं। धर्म–परिवर्तन की स्थिति तो और भी भिन्न है। वह बीते या छोड़े हुए धर्म को उसकी अच्छाइयों और बुराइयों के साथ तब तक जीता है जब तक वह नये धर्म में पूरी तरह समरस नहीं हो जाता। साहित्य में ऐसा नहीं। लेखक के रूप में प्रेमचंद ने भी अपने ज़माने की प्रमुख सवर्ण संवेदना को बदलकर गैर–सवर्ण चेतना से नाता जोड़ा था। उनकी रचनाओं से इस बात की प्रतीति होती है। फिर भी वे सवर्ण थे। जाति और वर्ग का वहाँ भी कितना बड़ा बंधन है। दूसरे यह विचित्र बात है कि गाँधीवादी लेखक द्वारा एक ही उपन्यास *गोदान* लिखे जाने पर, उस पूरे लेखन को नज़रअंदाज़ करते हुए जो उसका प्रमुख आधार रहा, उसका मार्क्सवादी लेखक या प्रगतिशील लेखक के रूप में देहांतरण कर लिया गया। परंतु सवर्ण होने के कारण बावजूद दलित जीवन पर निरंतर लिखते रहने के उसे दलित लेखन

से बाहर ही माना गया। दरअसल हम कई तरह के अंतर्विरोधों में जीने के लिए, न चाहते हुए भी बाध्य हैं। शायद राजनीतिक कारण सामाजिक कारणों के मुकाबले ज़्यादा लचीले होते हैं।

जब मैं ओमप्रकाश वाल्मीकि की आत्मकथा *जूठन*, लिंबाले का *अक्करमाशी*, लक्ष्मण गायकवाड़ का *उठाईगीर* अथवा श्यौराजसिंह बेचैन द्वारा अनुदित और हंस के जुलाई 2001 अंक में प्रकाशित श्री हज़ारी का कर्मवाद पढ़ता हूँ तो मैं जो हूँ वह नहीं रह पाता। यानी सवर्ण। हालाँकि हूँ वही। मेरी संवेदना का आमूल–चूल परिवर्तन यानी मनांतरण होने लगता है। ऐसा क्यों होता है? मेरी रचनात्मकता मुझे लांछित करने लगती है कि मेरा सारा अनुभव कहाँ गया, मेरी लेखकीय प्रतिबद्धता कहाँ गई? मैं भी वहीं कहीं रहा हूँगा। ओमप्रकाश वाल्मीकि, हज़ारी और मैं लगभग एक ही अंचल के हैं। न जाने क्यों मैं अनुभव करता हूँ कि मैं भी वहीं कहीं था। मुझे स्मरण है कि मुज़फ्फरनगर और उसके आस–पास के गाँवों में सिर्फ 'ओ बे चूहड़े के' संबोधन नहीं था बल्कि वह बाबा तक जाता था 'चूहड़े के के . . .।' यह सभी जातियों के संदर्भ में प्रयुक्त होता था। सामने नहीं तो आगे–पीछे। मुझे स्मरण है कि एक गाँधीवादी कार्यकर्त्ता ने एक ज़मींदार के घर पर इस तरह के संबोधन और मारपीट के विरोध में लगभग एक सप्ताह भूख हड़ताल की थी। तब यह सभी वर्गों द्वारा मूर्खता समझी गई थी। आज तो और भी ज़्यादा समझी जाएगी। उसने उस 'चूहड़े के के . . . .' को बुलाकर कहा था तुम इस हवेली को नीलाम कर दो। वह हवेली छोड़ना नहीं चाहता था। हवेली बड़ी थी। कई तरह के लाभ थे। 'जूठ' भी काफी मिलती थी। लेकिन जैसे–जैसे उस भूख हड़ताल का दबाव बढ़ा वह हवेली बेचने के लिए बाध्य हो गया। हवेली बेचने की परंपरा का ज़िक्र दलित जीवन से संबंधित अनेक रचनाओं में मिलता है। जिसकी हवेली बिकती थी वह अपनी बिरादरी में असम्मान का पात्र समझा जाता था। जिस हवेली की साख गिरी हुई होती थी उसका मूल्यांकन भी कम होता था। आखिर उस ज़मींदार परिवार ने अपने व्यवहार को सुधारने का वचन दिया और हर्जाने के रूप में कुछ रुपये भी दिये थे।

जूठन में वाल्मीकि ने लिखा है, ''अस्पृश्यता का ऐसा माहौल कि

कुत्ते–बिल्ली, गाय–भैंस को छूना बुरा नहीं था लेकिन चूहड़े का स्पर्श हो जाये तो पाप लग जाता था। सामाजिक स्तर पर इंसानी दर्जा नहीं था। वे सिर्फ ज़रूरत की वस्तु थे।'' (पृष्ठ 12) अपने आप में यह एक कटु सत्य है। इस में कोई शक नहीं कि दलितों का घोर यातनापूर्ण जीवन था। लेकिन सवर्ण वर्ग को यह बात कभी नहीं सालती थी कि अपने ही समान दो हाथ और दो पैरों वाले व्यक्ति को वे इंसान के रूप में जीवनयापन करने के अधिकार से भी निरंतर वंचित करते चले आ रहे हैं। स्कूल तक में सामान्य मनुष्य की तरह पानी पीने का भी अधिकार नहीं। कोई पिला दे तो पी लेते थे। यहाँ एक ऐसे अध्यापक का ज़िक्र करना अनुचित नहीं होगा जिन्हें लोग 'गाँधी जी' कहते थे। वे खादी के सफेद कपड़े पहनते थे, जमीन पर सोते थे। अगर कोई अध्यापक या बच्चा किसी दलित बच्चे को पानी पीने नहीं देता था या अपमान करता था या और कोई गलत काम करता था तो वे ऐसा करने वाले व्यक्ति के पास जाकर अपने मुँह पर ताबड़–तोड़ चपत लगाना शुरू कर देते थे। तब तक लगाते रहते थे जब तक वह अपने व्यवहार के प्रति शर्मिंदा नहीं हो जाता था। उनके इस व्यवहार ने स्कूल के वातावरण में आमूल–चूल परिवर्तन ला दिया था। गाँधी के प्रभाव में परिवर्तन की एक शृंखला गुप–चुप रूप से गाँवों और शहरों में चल रही थी। जो अछूतोद्धार की दृष्टि से परिवर्तन ला रही थी। भले ही ऐसे लोग ज़्यादा न हों परंतु जितने भी थे वे दकियानूसी सामाजिक वातावरण की जड़ता को तोड़ रहे थे। यथासामर्थ्य सुधार लाने का प्रयत्न कर रहे थे। उनका यह अहिंसात्मक व्यवहार परिवर्तन लाने में सहायक और एक सीमा तक प्रभावी था। लेखक प्रेमचंद हों या फिर उपरोक्त मास्टर 'गाँधी जी' वे अपने–अपने ढंग और माध्यमों से परिवर्तन की इस लहर को आगे बढ़ा रहे थे। वाल्मीकि ने *जूठन* में लिखा है आज़ादी के आठ वर्ष बाद तक ''गाँधी जी के अछूतोद्धार'' की ध्वनि सुनाई पड़ती थी।'' (पृ. 12) जो अब नहीं पड़ती। शायद ज़रूरत भी नहीं। अब दलित वर्ग अपनी शक्ति से उस परिवर्तन को लाने के लिए कटिबद्ध है।

मेरे ही *ढाई घर* उपन्यास में पृ. 230–31 पर एक घटना का उल्लेख है। 'मझले राय' ज़मीनदार थे। 'मिरची चमार' के बेटे अपने

बाप की बेइज्ज़ती का बदला लेने खिड़की के द्वारा मझले राय के डेरे पर जाते हैं और जब वे पूछते हैं तो कहते हैं, ''हम हैं फत्ता और चंदन, मिरची के बेटे।'' वे पूछते हैं, ''क्या बात है?'' तो कहते हैं, ''अपने बाप की बेइज्जती का बदला लेने आये हैं।'' अपने बाप मिरची से मझले राय के मुँह में पेशाब कराते हैं। मिरची पेशाब नहीं करना चाहता। वे मजबूर करते हैं। फिर मझले राय की खाल उतारने के लिए मिरची को गाँव से राँपी लाने के लिए भेजते हैं। लेकिन लड़की को दया आ जाती है वह यह कहकर छोड़ देती है ''तू जितनी दूर हो सके जल्दी निकल जा।'' जैसा कि मैंने ऊपर लिखा कि इन जीवनियों को पढ़कर मैं उसी माहौल में धँस जाता हूँ जहाँ यह सब होता था। ये स्थितियाँ शर्मनाक थीं। मुझे नहीं लगता किसी भी सवर्ण को इन करतूतों की पृष्ठभूमि में सम्मानित बने रहने का अधिकार है। रामविलास ने अपनी उपरोक्त पुस्तक में लिखा है, ''धर्मांधता और अस्पृश्यता में गहरा संबंध है।'' (पृ. 385) उन्होंने गाँधी वाङ्मय (21/242) से गाँधी का मत पृ. 385 पर उद्धृत किया है, ''विद्वानों में नास्तिकता आ गई है। जिस के फलस्वरूप वे निराशावादी हो गये हैं, वहाँ दूसरी ओर आस्तिकों में अंधकार फैला हुआ है।'' आज भी स्थिति कमोबेश उससे बेहतर नहीं। विद्वानों में तटस्थता भी है। आस्तिक ज़्यादा कट्टर और रूढ़िवादी होते जा रहे हैं। गाँधी अस्पृश्यता के कारण फैले अंधकार के खिलाफ इसलिए भी लड़ रहे थे कि उनकी मनुष्य में आस्था बची रह सके। यहीं पर गाँधी के एक और वक्तव्य पर विचार किया जा सकता है'' . . . हमारे लाखों हिंदू भाई ढेढ़ लोगों का तिरस्कार करते हैं और जब तक इस स्थिति में सुधार नहीं होता तब तक, दक्षिण अफ्रीका में और अन्यत्र जो गोरे तिरस्कार करते हैं उनके सामने यह सिद्ध न कर सकेंगे कि हम इस व्यवहार के सर्वथा अयोग्य हैं।'' (13/27 गाँधी वाङ्मय) शायद गाँधी से अधिक गैर–दलितों के इस अमानवीय व्यवहार की किसी सवर्ण ने कभी इतने कड़े शब्दों में भर्त्सना नहीं की।

ओमप्रकाश वाल्मीकि ने *जूठन* में ही अपनी और अन्य हज़ारों–लाखों लोगों की वेदना का वर्णन किया है।'' . . . इस पीड़ा का अहसास उन्हें कैसे होगा जिन्होंने घृणा और द्वेष की बारीक सुइयों का दर्द

अपनी त्वचा पर कभी महसूस नहीं किया? अपमान जिन्हें भोगना नहीं पड़ा। वे अपमान बोध को कैसे जान पायेंगे? रेतीले ढूह की तरह सपनों के बिखर जाने की आवाज़ नहीं होती। भीतर तक हिला देने वाली सर्द लकीर खिंच जाती है। जिस्म के आर–पार।'' (पृ. 62)'' वेदना और तिरस्कार की इससे अधिक रचनात्मक और मानवीय अभिव्यक्ति और क्या होगी। यह दर्द का सौंदर्यशास्त्र है। मैंने *परिशिष्ट* उपन्यास के संदर्भ में लिखा था ''दालित्य उपेक्षा की पराकाष्ठा है।'' यह बात अलग है वर्ग या जाति का जो दाग एक बार लग गया है उसे मैं नकार भी दूँ तो मानेगा कौन? आई. आई. टी. कानपुर में रहते मैंने इस पराकाष्ठा का साक्षात्कार किया था। मानसिक, सामाजिक और भौतिक स्तर पर। एक इतने सभ्य और शिक्षित वातावरण में मैंने भी वाल्मीकि की तरह महसूस किया था कि 'आदिम सभ्यता' में साँस ले रहा हूँ। साहित्य का साहित्य होना यही बात साबित करता है कि वह समान अनुभव के क्षणों में साकार सामने आ खड़ा हो। चाहे वह दलित साहित्य हो या गैर–दलित।

वाल्मीकि ने अपनी आत्मकथा में एक बहुत मार्मिक अनुभवजन्य वाक्य लिखा है ''. . .पढ़–लिखकर जातियाँ नहीं सुधरतीं। वे सुधरतीं हैं जन्म से ।'' (पृ. 73) मेरे सामने दो उदाहरण हैं जहाँ जातियों के कारण दो महान व्यक्तियों को गहरे धर्म–संकट और ऊहापोह का सामना करना पड़ा और फिर उनका उन्होंने अपनी–अपनी तरह से हल निकाला। डॉ. अंबेदकर जातीयता और वर्ण नहीं बदल सकते थे। विरोध तभी होता है जब कोई चीज़ गले में पत्थर की तरह लटक जाती है। वे हमारे देश के सबसे बड़े आलिम–फाज़िल और बुद्धिजीवियों में थे। परंतु उन्हें जातीय संत्रास के कारण घुटन और पीड़ा थी। उसी अनुभव का उल्लेख वाल्मीकि ने किया है। उन्हें ये घोषणा करनी पड़ी कि वे हिंदू नहीं मरेंगे। उसके लिए उन्हें अंतिम दिनों में बौद्ध धर्म ग्रहण करना पड़ा। उसके लिए जो प्रतिज्ञा या शपथपत्र तैयार किया उस पर भी हिंदू धर्म में रहने और उसकी तकलीफ को भोगने का गहरा प्रभाव था। नव–बौद्धों के लिए बना वह एक अनिवार्य शपथपत्र है। वैसे सब धर्मों में प्रदूषण है, कहीं किसी रूप में, कहीं किसी रूप में। डॉ. धर्मवीर ने बौद्ध धर्म की

सीमाओं का उल्लेख अपनी पुस्तक में किया है (देखें, *अस्पृश्यता और परंपरा*)। अंबेदकर जैसे बुद्धिवादी व्यक्ति को भी आस्था की रक्षा के लिए धर्म परिवर्तन करना पड़ा। क्या धर्म इतना महत्वपूर्ण है? शायद उन्होंने ऐसा यह बताने के लिए किया हो कि बौद्ध धर्म में दलितों के लिए हिंदू धर्म से ज़्यादा गुंजाइश है। दूसरा उदाहरण गाँधी का है। गाँधी के इस पक्ष पर ध्यान देने की जरूरत नहीं समझी गई। उन्होंने अपनी सवर्णता बदलने के लिए सवर्णों का विरोध किया, उनकी मान्यताओं के विरुद्ध काम किया। 1901 में मॉरिशस से होकर जब हिंदुस्तान पहुँचे तो वे पूरी तरह बैरिस्टर थे, विलायती कपड़े पहनते थे। उसी वर्ष 'राष्ट्रीय महासभा कांग्रेस' का अधिवेशन कलकत्ता में था। वे उस में 'डेलिगेट' के रूप में शामिल हुए थे। उस समय भी उनकी छुआछूत पर सतर्क नज़र थी। अपनी *आत्मकथा* में उन्होंने लिखा है ''मुझे यह वर्ण धर्म अखरा। महासभा में आने वाले प्रतिनिधियों को इतनी छूत लगती है तो जो लोग प्रतिनिधि बनाकर भेजते हैं उन्हें कितनी छूत लगती होगी . . .।'' (पृ. 259)

वे उस समय 32 वर्ष के लगभग रहे होंगे। पहनने–ओढ़ने के शौकीन हर नौजवान की तरह वे भी थे। लेकिन छुआछूत के दारुण अनुभव से गुज़रना पड़ा। उन्होंने आत्मकथा में लिखा है, ''पाखाने कम थे। उनकी बदबू की याद से आज भी (19 वर्ष बाद) रोंगटे खड़े हो जाते हैं। मैंने एक स्वयं सेवक का ध्यान उसकी ओर खींचा। उसने बेधड़क होकर कहा यह तो भंगी का काम है। मैंने झाड़ू मँगायी। वह मेरा मुँह ताकता रहा। (यानी उसने झाड़ू लाना भी छूत–कर्म समझा क्योंकि वह एक भंगी द्वारा छुई गई होगी।) आखिर मैं झाड़ू खोज लाया। पाखाना साफ किया . . . रात के समय तो कोई कमरे के बरामदे में पाखाने बैठ जाता था। सुबह मैंने स्वयंसेवक को वह मैला दिखाया। पर कोई साफ करने को तैयार नहीं था। वह गौरव मुझे ही प्राप्त हुआ।'' (पृ. 259.60, *सत्य के प्रयोग*) गाँधी ने उसे गौरव की संज्ञा देकर जातीय हिंदू की मानसिकता को झकझोरा। भले ही आधुनिक लोग उसे दिखावे के रूप में लेते हों। उस ज़माने में एक सवर्ण द्वारा दूसरों का पाखाना साफ करने का मतलब था जाति बाहर जाने के लिए निमंत्रण का आग्रह। हालाँकि गाँधी लंदन

जाने से पहले ही जाति बाहर हो चुके थे।

जब उन्होंने अस्पृश्यता के सवाल पर देश भर का दौरा किया था तो उनके आलोचकों ने उन पर आरोप लगाया कि वे आज़ादी के आंदोलन की गंभीरता को कम कर रहे हैं। नेहरू जेल में थे इस बात से नाराज़ हुए कि गाँधी जी राजनीतिक सवाल को एक भावनात्मक और धार्मिक सवाल से जोड़ रहे हैं। इस तरह के सामाजिक कार्यों को आज़ादी की लड़ाई से अलग रखना चाहिये। कांग्रेस और उससे जुड़े उदारवादियों का यह दृष्टिकोण आरम्भ से ही रहा था कि कांग्रेस का काम समाज से बुराइयाँ दूर करना नहीं है। गाँधी का मानना था, ''कुछेक सामाजिक प्रश्न इतने व्यापक होते हैं कि उन्हें राजनीतिक बनाये बिना काम नहीं चल सकता . . . दक्षिण में ब्राह्मण और ब्राह्मणेतर प्रश्न इतना उग्र हो गया है कि जो राजनीतिक पक्ष उसे छोड़ देगा वही मृत्यु को प्राप्त होगा।'' (*गाँधी, अम्बेडकर, लोहिया. . . .*डॉ राम विलास शर्मा, पृ. 385) उनकी भविष्यवाणी आज सही साबित हो रही है। आज भी इस प्रश्न के बारे में कोई गाँधी और अंबेदकर की तरह गंभीर नहीं। केवल वोट की राजनीति के लिए उसका लाभ उठाया जाता है। (जैसे आज 2015 में राजनीतिक दल डॉ. अंबेदकर के जन्मदिन को इस तरह मना रहे हैं कि अंबेदकर के बड़े अनुयायी हैं।) गाँधी भंगी बस्तियों में ठहरते थे। उस ज़माने में सवर्ण और कुछ अवर्ण भी उनका मज़ाक उड़ाते थे। लेकिन कोई भी व्यक्ति बिना ऐसी समस्याओं से भावनात्मक स्तर पर जुड़े, न पाखाना साफ कर सकता है और न शायद अपने समाज का विरोध बर्दाश्त करके उन बस्तियों में जाकर रह सकता है जो हज़ारों वर्ष से नगर–बदर या गाँव–बदर करके रखी गई हों। गाँधी ने अपने को भंगी कहा। पर किसने माना? आखिर उन्हें भी मृत्यु की तरफ ही देखना पड़ा। उन्हें ये कहकर संतोष करना पड़ा ईश्वर अगले जन्म में उन्हें हरिजन के घर में जन्म दे जिससे वे उस गहन संत्रास को स्वयं भोग सकें। सोच, कर्म और इच्छा से वे दलित बने फिर भी दलित नहीं थे। शायद यही बिंदु है जहाँ दलित लेखक ठीक कहते हैं कि दलित ही दलित के संत्रास के बारे में लिख सकता है और शायद अनुभव भी कर सकता है। दलित या हरिजन बनने के लिए गाँधी

जितना कर्मणा उद्यम तो शायद ही संसार में किसी ने किया हो। बस हरिश्चंद्र का उदाहरण है जो दैवी कारण से डोम बनकर श्मशान पर शव फूँकने वालों से कर वसूला करता था। पर उसका दलित होना स्वस्फूर्त नहीं था। वाल्मीकि ने ठीक लिखा है कि पढ़–लिखकर जातियाँ नहीं सुधरतीं। अंबेदकर को धर्म परिवर्तन करना पड़ा और गाँधी को बावजूद जाति बदलने के लिए किये गये तमाम प्रयत्नों के, अगले जन्म की प्रतीक्षा करने के लिए बाध्य होना पड़ा।

अंबेदकर हिंदू और दलित होने के कारण जातीय हिंदुओं द्वारा मिलने वाले संत्रास से दुःखी और उत्तेजित थे और गाँधी सवर्ण होने के बावजूद उन्हीं के द्वारा किये जाने वाले मानसिक, सामाजिक, आर्थिक उत्पीड़न को शर्मनाक और अमानवीय मान कर लड़ रहे थे। कारण लगभग एक थे। अंत्यजों के द्वारा मरे हुए पशुओं को उठाने का काम छोड़ दिये जाने पर मार–पीटकर उनसे यह कार्य कराया जाता था। गाँधी ने टिप्पणी की थी, ''यदि यह सच है तो वह स्वदेशी डायरशाही मानी जायेगी और किसी हद तक विदेशी डायरशाही से भी अधिक बुरी है।'' (25/458, गाँधी वांड्मय)। कई बार ऐसा लगता है अंबेदकर और गाँधी के दुःख और मानसिक उत्पीड़न के कारण लगभग समान थे। रास्ते भले ही अलग–अलग हों।

हंस में प्रकाशित हज़ारी का *कर्मवाद*, ओमप्रकाश वाल्मीकि का *जूठन*, लक्षमण गायकवाड़ का *उठाईगीर* तथा डॉ. लिंबाले के *अक्करमाशी* में मरे हुए पशुओं को उठाने और उनका चमड़ा उतारकर बेचने और उस के मांस को भोज्य पदार्थ के रूप में ग्रहण करने का समान रूप से उल्लेख है। *कर्मवाद* में इस स्थिति का चित्रण जुगुप्सा उत्पन्न करता है। श्री हज़ारी ने लिखा है ''....हमारी जीविका उसी से चलती थी। काम वही था यानी बाज़ार की सफाई करना और मुर्दा मवेशी का चमड़ा उतारना इत्यादि. . . .जिस तरह मुर्दा मवेशी की ओर गिद्ध और अछूत दृष्टि जमाये रहते, इस दृष्टि से वहाँ गिद्ध और अछूत में कोई अंतर नहीं था। यथाशीघ्र हम मुर्दा पशु जैसे गाय, घोड़ा या बकरी को मैदान में ले जाकर उसकी खाल उतार लेते थे। खाल उतारने के बाद हम पकाने–खाने के लिए उसमें से मांस लेते और नमक लगाकर खालें सुखाने के लिए डाल

देते थे।'' (*हंस* जुलाई 01, पृ. 38) *अक्करमाशी* में इसका दूसरा पक्ष है जो इस बात की ओर संकेत करता है कि किस प्रकार दलितों की नई पीढ़ी का मन उस तरफ से बदल रहा था। हालाँकि आर्थिक कारणों से जीवनयापन के लिए वैसा करना अनिवार्य भी था। डॉ. लिंबाले ने लिखा है, ''धीरे–धीरे मुझे मृत जानवर से घृणा होने लगी। मृत जानवर का मांस खाने वालों पर गुस्सा आने लगा। मेरी आयु के सभी सहयोगियों में यह गुस्सा छूत के रोग की तरह फैलने लगा। चमड़ा उतारे हुए जानवर के मांस पर हम पेशाब करते। गोबर या मिट्टी फेंकते। पर गंगा माँ ऐसे मांस को भी ले जाती है। . . .हम साथियों को उन पर गुस्सा भी आता और बुरा भी लगता।'' (पृ. 57)

मानसिकता का यह परिवर्तन अंदर ही अंदर हो रहे सामाजिक परिवर्तन की देन थी। इसी के पीछे समकालीन आंदोलन भी शायद रहे हों। पर यह कहना कठिन है कि इन आंदोलनों का प्रभाव गाँवों में या उन बस्तियों में पहुँच पा रहा था या नहीं। पहुँच पा रहा था तो कितना? परंतु साहित्य में उनके प्रभाव का पदार्पण हो रहा था। भारतीय भाषाओं में साहित्य के माध्यम से जागरूकता आ रही थी। साहित्य पर बदलती मानसिकता का असर होता है। साहित्य परिवर्तन का भले ही सीधा माध्यम न हो परंतु सामाजिक और राजनीतिक हलचल को वह संयोजित करता है। जब साहित्य सक्रिय होता है तो स्वाभाविक है कि समाज भी उस बारे में सोचना शुरू कर देता है भले ही वह प्रक्रिया धीमी हो। डॉ. रामविलास शर्मा ने अपनी पुस्तक *गाँधी, अंबेदकर, लोहिया और भारतीय इतिहास की समस्यायें* में लिखा है, ''पुराना नियम था, जो बाप का धंधा है वही बेटे का हो। इसी तरह बिरादरियाँ बनी थीं। मनुष्य को धंधा बदलने का अधिकार है, इसी धारणा का प्रचार गाँधी जी करते थे।'' (पृ. 387)

गाँधी ने स्वयं भी कहा है, ''चमार का धंधा आज दूसरे लोग भी करते हैं। मरे हुए पशुओं को उठाकर उचित स्थान पर डाल देने के काम में मैं कोई दोष नहीं देखता। . . . अमुक धंधा अमुक जाति अथवा व्यक्ति को ही करना होगा, हम ऐसा दुराग्रह नहीं रख सकते।'' (*गाँधी वांङ्मय* 25 / 459)

यह विचार करने योग्य बात है कि गाँधी के अछूतोद्धार कार्यक्रम

ने उस युग के प्रेमचंद, निराला, नागार्जुन, अमृत लाल नागर, भवानी बाबू, विष्णु प्रभाकर, आदि अनेक लेखकों को दलित वर्ग के संबंध में लिखने के लिए प्रेरित किया था। उन लोगों ने अपने युग के अनुसार काफी परिवर्तनोन्मुखी रचनायें लिखीं जिन्होंने नई पीढ़ी के लेखकों को दिशा भी दी। लेकिन वे प्रयत्न दलित लेखकों को संतोष देने के लिए काफी नहीं। डॉ. अंबेदकर ने अनेक दलित लेखकों को रास्ता दिखाया। उन्होंने उन रचनाकारों से अपने को अलग करते हुए अपने परिवेश से संबंधित क्रांतिकारी रचनायें लिखीं। खासतौर से आत्मकथायें। कवितायें और गद्य रचनायें भी लिखी गईं। पाठकों पर उनका गहरा प्रभाव पड़ा। आत्मकथायें ख़ासतौर से एक ऐसे यथार्थ को सामने लाती हैं जो था तो, लोग उसे देखना नहीं चाहते थे। वे आँखें खोलने वाली रचनायें हैं। उपन्यास और आत्मकथाओं में अंतर होता है। आत्मकथायें व्यक्तिपरक होती हैं। मनुष्य जितना अपने बारे में जानता है उतना एक गद्य लेखक अपने पात्रों के बारे में प्रथम पुरुष के रूप में नहीं जानता। उसे अपने पात्रों को जानने के लिए अतिरिक्त उद्यम करना पड़ता है। लेखक के साथ–साथ पात्रों की भी सीमायें होती हैं। साथ ही तत्कालीन समाज भी समकालीन सोच में अंतर डालने का काम करता है। वह लेखक को उतनी आज़ादी नहीं देता जितना आत्मकथाओं में मिल सकती है। इसके बावजूद उन लेखकों ने साहित्य लिखा। वह उस लक्षमणरेखा को पार करना था जो उस युग के लेखकों के चारों ओर परंपरागत साहित्यिक संस्कारों ने खींची हुई थी। यह उसी तरह कठिन था जैसे दलितों के लिए सवर्णों द्वारा खींची गई रेखा यानी जाति और वर्ण को, पार करना कठिन था आज अनेक लेखक हैं, भले ही उनकी मूल प्रेरणा का स्त्रोत बाबा साहब अंबेदकर हों परंतु दलितों ने उस लक्षमणरेखा को तब लाँघा जब गाँधी के सिवाय कोई दूसरा राह दिखाने वाला नहीं था। गैर–दलित चट्टान की तरह बीच राह में खड़े थे। गाँधी के सामने दोनों चुनौतियाँ थीं। चट्टान को ढहाना और भयभीत और उस असुरक्षित वर्ग को उस लक्षमणरेखा को लँघाना।

गाँधी : हृदय परिवर्तन और दक्षिण अफ्रीकी पाठ

हिंद स्वराज को पढ़ते हुए गाँधी के 'पिछड़ेपन' को जानने का अवसर तो मिला ही, साथ ही साथ यह भी पता चला कि गाँधी अगर तत्कालीन समाज को ही देखते और उससे इसी तरह आतंकित हो जाते जैसे आज हम आधुनिकता और उत्तर–आधुनिकता से प्रभावित हैं तो शायद *हिंद स्वराज* न लिख पाते। क्योंकि वे *हिंद स्वराज* का वर्तमान आधुनिकता से किसी तरह का कोई रिश्ता बना पाने में असफल माने जाते। अलबत्ता बीसवीं और वर्तमान सदी के बारे में उनका मूल्यांकन आधुनिकतावादियों के मूल्यांकन से काफी अलग और अगर बहुत पुरानपंथी न समझा जाय तो यह भी कहा जा सकता है काफी हद तक वर्तमान को व्याख्यायित करता नज़र आता है। वह जितना आकस्मित लगता है उतना है नहीं। दो तरह के व्यक्ति होते हैं – एक तो वे जो सामान्य से सामान्य बात को पैगम्बरी अंदाज़ में कहते हैं और दूसरे वे जो मुश्किल से मुश्किल और असंभव लगने वाली बात को बड़े आकस्मिक ढंग से कह जाते हैं। ऐसे लोगों की बातें सामान्य समझ तक पहुँचने में समय लेती हैं क्योंकि इतने सहज ढंग से कही गई होती हैं कि न तो चकित करती हैं और न आतंकित। उनके कथन का व्यवहार–पक्ष कई बार कठिन लगने वाला होता था और दार्शनिक पक्ष को जहाँ तक होता था वे व्यावहारिक बनाने की कोशिश करते थे। यह विचित्र विरोधाभास है। लेकिन एक बात जरूर समझ में आती है कि आत्म–विखंडन और सामाजिक सोच उनकी प्रकृति का हिस्सा थे। *पहला गिरमिटिया* उपन्यास पर काम करते समय भी मुझे यह बात काफी शिद्दत से

अनुभव हुई थी। शायद इसीलिए उनके निष्कर्ष अक्सर विवादास्पद होते हुए भी व्यावहारिक होते थे। हालाँकि उन्हें व्यवहार में लाने के लिए मज़बूत इच्छाशक्ति की ज़रूरत होती थी। उसका खमियाज़ा भी उन्हें कई बार भुगतना पड़ता था।

भारत में गाँधी को समझने की कोशिश दो प्रकार से हुई। एक तो उनके अनुयायियों द्वारा जो उनकी किसी भी बात को आँख बंद करके मान लेने में विश्वास करते थे। दूसरी उनके विरोधियों द्वारा। उनका उद्देश्य था गाँधी की हर बात का विरोध करना और मौका पड़ने पर अपशब्दों तक का प्रयोग करना। पहला वर्ग तो अब लगभग तिरोहित सा ही होता जा रहा है। दूसरा वर्ग अभी भी अपनी पूरी शक्ति के साथ गाँधी को उखाड़ फेंकने के लिए प्रयत्नशील है। विरोध हमेशा किसी भी मंतव्य और विचार को समझने में सहायक होता है जबकि समर्थन कुछ देर की वाहवाही के बाद मार डालता है। गाँधी का प्रयत्न उनके 'शब्दों' तक ही सीमित रहा है। उनके द्वारा कही गई कई बातें अक्सर उनके प्रति गलतफ़हमी का कारण बनती रही हैं। कौन सी बात किस संदर्भ में कही गई यह न समझकर यही बात मुख्य रही कि गाँधी ने अमुक बात कही इसलिए गाँधी पाखंडी थे, दलित विरोधी थे, हिंदू समर्थक थे या हिंदू थे . . . इस प्रकार के अनेक आरोप उन पर लगते रहे। आज जिस प्रकार गाँधी के हत्यारे गोडसे का मंदिर बनाने का आन्दोलन चल रहा है वह इस मानसिकता का द्योतक है। दोनों ही वर्ग, उनके समर्थक और विरोधी, गाँधी की अपनी समझ के दायरे के बाहर नहीं थे। अपने संदर्भ में सबकी स्थिति वे समझते थे। वे स्वयं भी वक्त आने पर जमकर विरोध करते थे। इस संदर्भ में दो उदाहरण खासतौर से दिये जाते हैं, सुभाष का दूसरी बार कांग्रेस अध्यक्ष न चुना जाना, और 'कम्यूनल अवार्ड' को न मानना। उनका विरोध उनके अपने निष्कर्षों पर केंद्रित था जिसे वे आत्मा की आवाज़ कहते थे। उनके विरोधी उसे उनकी ज़िद या उनके पूर्वाग्रह की कोटि में भी रखते थे। जिसने उन्हें तानाशाह का तौक भी पहनाया। गाँधी ने एक तरह की आंतरिक सामर्थ्य निर्मित कर ली थी जिसके कारण उनके मन में अनावश्यक के लिए न कोई गुंजायश थी और न उन बातों का विरोध

करने के लिए पर्याप्त समय। जिनकी तर्कसंगतता या न्याय–औचित्य के प्रति वे आश्वस्त हो जाते थे, वहाँ वे अडिग थे। उन्होंने अपने विरोधियों से सीखा भी। विरोध की तर्कसंगतता समझकर उन्होंने उसका सम्मान भी किया। प्रत्यक्ष रूप से यह माना जाता है, कि सुभाष का झुकाव साम्यवाद की तरफ हो गया था अहिंसा के सिद्धान्त से सहमत नहीं थे। गाँधी और पटेल इस बात में उनसे सहमत नहीं थे। डॉ. अंम्बेदकर के साथ उन्होंने इन दोनों ही स्तरों पर सामंजस्य स्थापित कर लिया था। रवींद्रनाथ टैगोर ने भी स्वदेशी आंदोलन के दौरान विलायती कपड़ों की होली जलाने का विरोध किया था। उसका उन्होंने शालीनता से उत्तर दिया। आंदोलन की दिशा नहीं बदली। यही चौरी–चौरा की घटना के कारण आंदोलन वापिस लेने का समय हुआ था। अपने निकटतम साथियों के विरोध को भी उन्होंने उसी सहजता के साथ लिया जिस सहजता के साथ वे उनके समर्थन को लेते थे।

द एपिक फास्ट में प्यारेलाल ने लिखा है कि यरवदा जेल में उपवास की समाप्ति के समय गुरुदेव और गाँधी का मिलन हृदय को छूने वाला था। गुरुदेव आये तो गाँधी जी लेटे हुए थे उन्होंने बिना एक शब्द बोले गाँधी जी के सीने पर अपना सिर टिकाकर उनके कपड़ों में छिपा लिया और कई मिनट तक वे उसी स्थिति में बने रहे। गाँधी ने विलायती कपड़ों की होली पर बनी असहमति को जिस सहजता से लिया था उसी सहजता से गुरुदेव के स्नेह को भी स्वीकार किया था। इन घटनाओं से कई बार ऐसा लगता है गाँधी कटुता और प्यार, समर्थन और विरोध सब का उसी तटस्थता से विश्लेषण करते थे जिस तटस्थता के साथ एक 'क्रिटीक' किसी पाठ या 'टेक्स्ट' का विखंडन करता है। गहराई से विश्लेषित किये गये तथ्यों के निष्कर्षों में स्थायित्व की गुंजायश ज्यादा होती है। इसीलिए गाँधी को अपने बहुत कम निर्णयों को बदलने की जरूरत पड़ी। अनेक विरोधों के बावजूद अपने किसी निर्णय पर उन्हें पछतावे या आत्मग्लानि की शायद ही कभी अनिवार्यता या आवश्यकता महसूस हुई हो।

दक्षिण अफ्रीकी अनुभव का एक अलिखित पाठ की तरह विखंडन

और उसकी पुनर्संरचना इस वास्तविकता का विचित्र और विलक्षण उदाहरण है। यही बात कमोबेश अछूतोद्धार आंदोलन पर भी लागू होती है। यह पूरा पाठ एक औपन्यासिक कृति की तरह है। उन औपन्यासिक घटनाओं के बारे में हम भारतीय बहुत कम जानते हैं। जिस व्यक्तित्व का कृत्तित्व विवादास्पद हो गया हो या बना दिया गया हो उसके जीवन या कार्यों को गहराई से समझने की तब तक जरूरत नहीं होती जब तक समय उसे पुनः प्रासंगिक नहीं बना देता। कबीर का उदाहरण उल्लेखनीय है। कबीर के विरोध में सम्पूर्ण ब्राह्मण सत्ता थी। गाँधी के विरोध में कई तरह के वर्ग हैं। अनावश्यक विरोध भी कई बार राख की तरह सच्चाई को ढक लेता है। हर युग में कट्टर पक्ष का स्वरूप अलग–अलग होता है जो बाद में जाकर खुलता है। वह कुछ चुने हुए लोगों को अपना शिकार बनाता है। यह कट्टरपंथ राजनीतिक भी होता है, धार्मिक भी और सामाजिक भी। यह सब कुछ तत्कालीन स्थितियों के संदर्भ में बढ़ता या घटता है। गाँधी दक्षिण अफ्रीका एक अनुबंधित व्यक्ति की तरह गये थे। यानी एक वर्ष के 'गिरमिट' पर। यदि संसदीय भाषा में कहा जाय तो वह उनके जीवन का 'ज़ीरो आवर' यानी शून्य–काल था। वहाँ उनका व्यक्तित्व लगभग नगण्य हो गया था। बैरिस्टर होते हुए भी वे बैरिस्टर नहीं रहे थे। परिवार होते हुए वे अकेले हो गये थे। देश व घर होते हुए भी दोनों उसी तरह छूट गये थे जैसे पढ़ने जाते हुए जाति छूट गई थी। वे जातिविहीन थे। हर गिरमिटिया के साथ यही हुआ था। वही गाँधी के साथ भी हुआ। सबसे पहला काम था उस जगह को जानना, वहाँ के लोगों को जानना, उन सबके संदर्भ में अपनी स्थिति को समझना और बनाना। यह अपने आप दुर्धर्ष प्रक्रिया थी।

वहाँ पहुँचते ही एक के बाद एक तीन घटनायें घटीं। इन घटनाओं ने उन्हें जगह और लोगों को जानने का अवसर तो दिया ही अपने जीवन को पहचानने का भी मौका दिया। वह पहचान उनके सत्य के साक्षात्कार की शुरूआत थी। बैरिस्टर होते हुए भी बोल पाने में असमर्थ, अपने वस्त्रों और सम्मान के प्रति अतिरिक्त रूप से सचेत व्यक्ति के लिए यह एक कठिन परीक्षा थी। ये तीन घटनायें

रोचक भी थीं और त्रासद भी। इन घटनाओं ने अपने स्तर पर उन्हें विखंडित भी किया और उनकी सामाजिक तथा राजनीतिक दृष्टि की संरचना में वे सहायक भी हुईं। सामाजिक अंतर्संबंधों के बारे में भी गाँधी का दृष्टिकोण विकसित हुआ। यह संयोग था कि अंतःप्रेरणा को उन्होंने अपने हाथ से चले जाने नहीं दिया। पहली घटना या तो बहुत आकस्मिक ढंग से घटी थी या फिर ऐसा ही होना था। गाँधी ने नियति को कभी नहीं माना। प्रकट रूप से उसके लिए कोई व्यक्ति उत्तरदायी नहीं था। 'कोर्टरूम' एक निर्जीव इकाई के रूप में उपस्थित था। हालाँकि 'कोर्टरूम' में और भी बहुत से लोग मौजूद थे। वकील, मुवक्किल, अहलकार और मजिस्ट्रेट। किसी का गाँधी से कोई ताल्लुक नहीं था। बस 'कोर्टरूम' मुख्य था। वे उसे एक दृश्य–वस्तु की तरह देखने गये थे न कि उससे कोई संवाद स्थापित करने। एक गोरा 'प्रेसाइडिंग ऑफिसर' था। वही उसकी पहचान थी कि वह उस कुर्सी पर बैठा हुआ था। उसने गाँधी को देखा और अपनी पगड़ी उतारने के लिए कहा। वह निर्जीव स्थिति गाँधी के लिए एकाएक संवाद के रूप में बदल गई थी। दादा अब्दुल्ला जिनके पास वे एक वर्ष के लिए अनुबंधित थे, बराबर में वैसी ही गुजराती पगड़ी बाँधे खड़े थे। गाँधी पगड़ी उतारने की जगह 'कोर्ट रूम' से बाहर चले गये। अगर दादा अब्दुल्ला वैसी ही पगड़ी बाँधे बराबर में न खड़े होते तो हो सकता था बाहुक्म मजिस्ट्रेट वे पगड़ी उतार देते। क्योंकि पूर्ववर्ती जीवनानुभव में इस तरह का उदाहरण नहीं मिलता इसलिए शायद न भी उतारते। लेकिन भेदभाव का पहला सबक उन्हें उस न्यायालय में मिला जहाँ सब समान होने चाहिये। वे भारत में रंग, जाति, वर्ण के स्तर पर भेदभाव भोगकर आये थे। उन्होंने अनुबंधित होते हुए भी दादा अब्दुल्ला से पूछा कि हम दोनों हिंदुस्तानी हैं आप को यह पगड़ी पहनने की इजाज़त है मुझें क्यों नहीं? उनका जवाब था यहाँ अरबों को ही यह छूट दी गई है कि वे पगड़ी पहन सकते हैं। गाँधी का दूसरा सवाल था एक भारतीय मुसलमान 'अरब' कैसे हो सकता है? इस सवाल का जवाब उनके लिए आसान नहीं था। फिर भी आसान उत्तर था – सब ही पहनते हैं। गाँधी वहाँ के जीवन के इस पृष्ठ पर लिखे पाठ को समझ गये थे। उन्होंने उसे

हर तरह से तोड़ा। उनकी समझ में यह आ गया था कि भारतीयों और गोरों के अंतःसंबंधों की स्थिति सर्वथा असामान्य है।

यह बात उल्लेखनीय है कि उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में अंग्रेज़ों या कहिये गोरे हुक्मरान की नज़र में अरब या मुस्लिम समुदाय एक सम्मानित वर्ग था। उन्हें हर तरह से महत्व दिया जाता था। इक्किसवीं शताब्दी के आरंभ में वही वर्ग उनके लिए असुविधाजनक हो गया। वे यूरोपीय और अमेरिकी समाज के लिए आँख का काँटा हो गये। 11 सितंबर 2001 को अमेरिका पेंटागन और विश्व व्यवसाय केंद्र के भवनों और उसमें काम कर रहे हज़ारों लोगों के संहार के बाद वही वर्ग अरबों से मिलती जुलती दाढ़ी और पगड़ी पहनने वाले निर्दोष सिक्खों पर हमले करने लगा। ये वही अरब हैं जिन्हें पहले इस तरह की छूट देकर वे लोग खुश होते थे। प्रश्न है संबंधों के ये समीकरण किस आधार पर तय होते हैं? यह कोई नहीं सोचना चाहता कि जो वर्ग गोरे समुदाय के इतना निकट था उसमें यह परिवर्तन क्यों आया? कोई भी वर्ग यह सोचने के लिए तैयार नहीं है कि वे लोग जो उन्हें इतना सम्मान देते थे, उनके दिलों में उनके प्रति इतनी दूरी क्यों आ गई? यह प्रश्न इतना सहज नहीं है। यह प्रश्न सामाजिक और राजनीतिक संबंधों के विश्लेषण की अनिवार्यता पर ज़ोर देता है। गाँधी की समझ में यह बात काफी हद तक आ गई थी कि गोरे एशियाई लोगों को बाँट रहे हैं। शायद यह बिंदु ही वह बीज था जो एशियाई लोगों को साथ लेकर, चाहे वे भारतीय हों या चीनी या मलयाली, अधिकारों की लड़ाई लड़ने की प्रेरणा बना।

दूसरी घटना सर्वविदित है। पीटरमेरिट्ज़बर्ग के स्टेशन पर फर्स्टक्लास का टिकट पास होने के बावजूद उन्हें डिब्बे से मय सामान के बाहर फेंक दिया गया था। फर्स्टक्लास में गोरे ही सफर कर सकते थे। गाँधी लंदन से पढ़कर लौटे बैरिस्टर होने की वजह से फर्स्टक्लास में सफर करना अपना अधिकार समझते थे। चूँकि भारतीय थे इसलिये वे इस अधिकार से सर्वथा वंचित थे। जिसका नतीजा हुआ कि वे सर्दी की उस रात में ठिठुरते हुए दो सवालों से जूझते रहे। क्या वे लौट जायें? उसका जवाब था कि 'नहीं'। यहाँ रहकर स्थितियों का सामना करना है। दूसरा सवाल था कि भारतीयों

के प्रति अंग्रेज़ों की घृणा और अपमानजनक व्यवहार से कैसे निबटा जाय? उस समय तो इस सवाल ने उनके मन में रोष को ही जन्म दिया था। उनका यह रोष संभवतः सामान्य रोष से भिन्न था। वह चिंतन मिश्रित रोष था जो भौतिक आक्रामकता को प्रोत्साहन नहीं देता। और रोषों को तो समय का जल बुझा देता है परंतु यह रोष एक ऊर्जा में बदलता गया। तीसरी घटना और भी भयावह साबित हुई। जोहान्सबर्ग से प्रिटोरिया की यात्रा स्टेटकोच यानी घोड़ों की गाड़ी से करनी पड़ती थी। रात भर की यात्रा थी। साईस ने उन्हें बाहर कोचबक्स पर बैठाया जो उसके अपने बैठने की जगह थी। अपने आप कोच के अंदर बैठा। यहाँ तक भी ठीक था। सवेरे लगभग तीन बजे जब एक जगह कोच रुका तो उसने उन्हें कोचबॉक्स के पायदान पर बैठने के लिए कहा। क्योंकि उसे कोचबॉक्स पर बैठकर सिगरेट पीना था। गाँधी की यह तीसरी मुठभेड़ थी। गाँधी ने उसे अपनी जगह देने से मनाकर दिया। उनका आत्मसम्मान दब्बूपन के खोल से बाहर निकल आया था। कोचवान ने उन्हें खूब पीटा, खींचकर उतारना चाहा। उन्होंने कोचबॉक्स का डंडा पकड़ लिया और हिलने से भी मना कर दिया यह उनका अहिंसात्मक विरोध था। दरअसल गाँधी समझ रहे थे कि यह उनके आत्मसम्मान पर चोट तो है ही, सवारी के रूप में भी उनकी स्वतंत्रता का हनन है। ये तीनों घटनायें गाँधी के डरबन पहुँचने के लगभग पंद्रह दिन के अंदर ही घटित हो गई थीं। इन तीनों घटनाओं ने उन्हें विद्रोह–दृष्टि दी। उन घटनाओं को उन्होंने अपने आपसे जोड़कर नहीं देखा। अगर देखते तो शायद उनका लौट जाना ही श्रेयस्कर होता। उन्होंने उसे दक्षिण अफ्रीका और अपने देश में रह रहे भारतीयों की दुर्दशा के संदर्भ में जाना और समझा। यह उनके सामने खुलते सामाजिक सत्य का विस्तार था। उस दयनीयता से बाहर आने की कोशिश थी जिसमें वे अभी तक अपने परिवार और देश में रह रहे थे। जिसके कारण उन्हें मि. लेली, अपने तुलसी चाचा और लंदन में मिले एक गोरे दोस्त और बाद में अधिकारी ओलिवेंट के द्वारा किये गये अपमान को चुपचाप पीना पड़ा था।

गाँधी का इन घटनाओं से देहातिक्रमण भी हुआ, मानस–परिवर्तन

भी। वे एक क्रांतिकारी व्यक्ति बनते गये। गाँधी की क्रांतिकारिता को समझने के लिए क्रांतिकारिता की परंपरागत परिभाषा को लेनिन की तरह अलग दृष्टिकोण से समझना होगा। क्योंकि जीवनभर के उनके दर्शन और उद्यम का केंद्र यही तीन घटनायें हैं।

यह बात फिर से दोहराने की आवश्यकता नहीं कि गाँधी की संपूर्ण प्रयोगशीलता अपने आप में एक ऐसे पाठ की तरह है जिसे समझने के लिए बार–बार प्रयत्न करने की आवश्यकता पड़ सकती है। पक्ष या विपक्ष में निर्णय लेने के लिए शॉर्टकट नहीं अपनाया जा सकता। किसी के संदर्भ में कोई आकस्मिक निर्णय अपने उत्तरदायित्व से अनुत्तरदायित्वपूर्ण मुक्ति की श्रेणी में आता है। जिस तरह परंपरा हमारी पीठ पर लदी होती है उसी तरह उन महानुभावों के कर्म भी होते हैं जिन्होंने समाज को बेहतर बनाने में अपना रचनात्मक सहयोग दिया होता है। चाहे वह धर्म का क्षेत्र हो या दर्शन का या सामाजिक चिंतन का। अगर किसी को अस्वीकार भी करना है तो वह अस्वीकार भी एक न्यायिक प्रक्रिया की तरह लगना चाहिये। गाँधी को हम न्याय नहीं देना चाहते। ऐसे बहुत से वर्ग हैं जो गाँधी को 'समरीट्रायल' का मौका भी नहीं देना चाहते। यह बात अलग है कि बाहर के लोग गाँधी के हर पक्ष का गहनता से अध्ययन करते हैं। गाँधी के बारे में अनेक ऐसे सवाल सामने आते हैं जो उन्हें एक खलनायक के रूप में प्रस्तुत करते हैं। नहीं भी करते तो उस रूप में उनकी पड़ताल करने की स्थिति पैदा करते हैं। यही गाँधी के कार्यों और सोच का दूसरों के द्वारा विखंडन है। गाँधी कैरियरवादी थे? अपनी पत्नी कस्तूरबा का ज़ेवर बेचकर वे लंदन पढ़ने गये थे। यह एक तथ्य हुआ। लेकिन उनके बहनोई, उनकी इकलौती बहिन रलियत के पति ने उनके उस रुपये को इसलिए देने से मना कर दिया क्योंकि सात समंदर पार पढ़ने जाने के कारण वैश्यों के प्रमुखों ने उन्हें जाति से बाहर कर दिया था। वे अपने परिवार के मित्र पटवारी परिवार से उधार लेकर विलायत पढ़ने गये थे। यह दूसरा तथ्य है जो उनके 'कैरियरिज़्म' को रेखांकित करता है। लेकिन इसका एक पलटवार भी है। ऐसा कैरियर–परस्त व्यक्ति दक्षिण अफ्रीका में इतना अपमानित होकर भी वहाँ क्यों बना रहा?

क्या इसलिए कि वह एकसाला 'गिरमिट' के कारण प्रतिबंधित था। यह बात भी नहीं। वर्ष भर के लिए एक सौ पाँच पौंड मेहनताना इतनी बड़ी रकम नहीं थी, अगर हर्जाने के रूप में भुगतान की स्थिति आती तो वे न दे पाते। अनुबंध में ऐसा कोई प्रावधान भी नहीं था कि अनुबंध तोड़ने वाले को 'पेनेल्टी' देनी होगी। शायद 'हृदय परिवर्तन' ही इसके पीछे था। भले ही वह पूरी तरह से ना हुआ हो पर एक गंभीर शुरुआत का द्योतक ज़रूर है। हृदय परिवर्तन के इस 'गोस्पल' ने गाँधी के जीवन में एक प्रेरक स्थान बना लिया था।

हृदय परिवर्तन गाँधी के लिए भले ही दक्षिण अफ्रीका में पूर्ण सत्य का रूप न ग्रहण कर पाया हो परंतु अब्दुल्ला और उनके संबंधी तथा प्रिटोरिया के सबसे बड़े भारतीय व्यवसायी तैयब सेठ के बीच 'आउट ऑफ कोर्ट' तस्फिये ने इस दिशा में एक शक्ल ग्रहण करना शुरू कर दिया था। दो बड़े भारतीय व्यवसायियों के बीच सद्भावना उत्पन्न करने के संदर्भ में कहीं न कहीं गाँधी के मन में दो बातें रही होंगी। पहली बात तो व्यवसायियों के हित की थी। अगर दो भारतीय दिग्गज व्यवसायियों में से किसी को लगभग चालीस हज़ार पाउंड का नुकसान हो गया तो उसके बरबाद होने में कोई कमी नहीं रहेगी। दूसरी बात शायद सामाजिक अंतःसंबंधों से जुड़ी थी। भारतीयों की दुर्दशा से भी संबंधित थी। इन दो बड़े भारतीयों के बँट जाने से भारतीयों की एकजुटता पर असर पड़ेगा। मुसलमान व्यवसायी संख्या में अधिक थे। हर एक व्यवसायी के दोनों या किसी एक से गहरे व्यापारिक संबंध थे। अगर ऐसा हो जाता तो वे लोग भी बँट सकते थे। कोई नहीं चाहता था कि उनमें से कोई बरबाद हो। दोनों के अपने–अपने व्यवसायियों के पैरोकार थे। इसमें कोई शक नहीं कि वे वहाँ दादा अब्दुल्ला के पैरोकार बनकर गये थे। सवाल है कि क्या वे अपने प्रवास के बीसों वर्ष उन्हीं के पैरोकर बने रहे? दक्षिण अफ्रीका और खासतौर से डरबन के भारतीयों की आर्थिक स्थिति बड़ी विचित्र थी। भारतीय समाज कई आर्थिक और धार्मिक वर्गों में बँटा था।

'पैसेंजर' यानी यात्री वर्ग में व्यवसायी आते थे। वे अपना पैसा खर्च करके वहाँ गये थे और अपने ही धन से व्यवसाय कर रहे थे। उनको

साथ लिये बिना गाँधी भारतीयों की अस्मिता और अधिकारों की रक्षा के बारे में सोच भी नहीं सकते थे। गाँधी यह तो जान ही गये थे कि व्यवसायी वर्ग बहुत कमज़ोर है। उनके दम पर किसी तरह की कोई लड़ाई नहीं लड़ी जा सकती। उन दो बड़े व्यवसायियों के बीच सद्भावना ने व्यवसायी वर्ग को टूटने से बचा लिया था। दूसरा वर्ग था गिरमिटिया वर्ग जिसे 'इंडेंचर्ड लेबर' कहा जाता था। भारत से वह भी पाँचसाला अनुबंध पर ही आया था। उनमें ज़्यादा हिंदू थे। वे सबसे दीन–हीन थे और अपमानित जीवन बिता रहे थे। पूरे नेटाल में फैले हुए थे। सब को एक जुट करना आसान नहीं था। तीसरा वर्ग था उन लोगों का जो 1860 के बाद जन्मे थे। उनके माता–पिता भी गिरमिटिया ही थे। लेकिन अंग्रेज़ी पढ़–लिख गये थे। उनमें से ज़्यादातर ईसाई हो गये थे और वे अपने को अन्य भारतीयों से अलग समझते थे। गाँधी सम्पूर्ण भारतीय समाज की वस्तुस्थिति से अवगत होना चाहते थे। गाँधी यह भी समझ गये थे कि यदि अधिकारों के लिए कोई लड़ाई हुई तो उसका मज़बूत कर्णधार गिरमिटिया वर्ग ही हो सकता है। ये तीनों वर्ग ही शोषित थे परंतु सबके शोषण की प्रक्रिया और स्थिति अलग–अलग थी। व्यवसायी गिरमिटियों को अस्पृश्य मानते थे। कुली तो वे थे ही। उनके बीच किसी तरह का न कोई संवाद था और न आपसी समझ। समझदारी बनाने की शुरुआत व्यवसायी ही कर सकते थे। परंतु इसमें उनकी ज़रा भी रुचि नहीं थी। ईसाई वर्ग अपने को गोरों के निकट समझता था। वे इन तीनों ही स्थितियों को विस्मयकारी और बेबुनियाद समझ रहे थे। पहले प्रयोग में उन्होंने व्यवसायियों को बँटने से बचाया। हालाँकि उस समय तक गाँधी का एकसाला अनुबंध था। उन्हें यही मालूम था कि उन्हें एक वर्ष बाद लौट जाना है। यह कहना तो गलत होगा कि गाँधी को पूर्वाभास था कि वे वहाँ रहेंगे। इतना ज़रूर था कि उन तीन घटनाओं ने उनके मन में अपमान का क्षोभ भर दिया था। अपमानित करने वालों को वे ज़रूर सबक सिखाना चाहते रहे होंगे। लेकिन वे यह भी जानते थे कि चाहने से ही सब कुछ नहीं होता। एक वर्ष के समय के लिए और वह भी गिरमिट के तहत आया व्यक्ति, किसी को क्या सबक सिखा सकता था?

गाँधी डरबन में एक तरह से अनिकेत थे। पत्नी, बच्चे, भाई, भाभी, सब गुजरात में थे। वे पत्नी से एक वर्ष में लौट आने का वायदा करके आये थे। इस दृष्टि से भी उनका वहाँ रहना संभव नहीं था। लेकिन गाँधी का एक वर्ष की जगह लगभग बीस वर्ष दक्षिण अफ्रीका में रहना इस बात का द्योतक है कि वे मन ही मन ज़रूर किसी ऐसे मौके की तलाश में रहे होंगे कि वे वहाँ रहकर उस अपमान का बदला ले सकें। किसी विदेशी लेखक ने कहा है कि हमने तो गाँधी को रेल के डिब्बे से बाहर फेंका था उसने हमें दुनिया से बाहर फेंक दिया। अपने बीस वर्ष के प्रवास के दौरान वे दो बार भारत गये। जब तक उनका उद्देश्य पूरा नहीं हुआ वे लौटते रहे। लेकिन 1914 में जब स्वदेश लौटे तो अनेक निमंत्रणों के बावजूद वे फिर कभी दक्षिण अफ्रीका लौटकर नहीं गये। कहीं न कहीं यह इस बात का संकेत देता है कि भारतीयों को उनके अधिकार दिलाने और उन्हें सबक सिखाने का उनका काम पूरा हो गया था। शायद इसीलिए उन्होंने फिर मुड़कर नहीं देखा। हालाँकि उनका संपर्क बराबर बना रहा। उनकी हत्या के कुछ समय पहले ही उनके अभिन्न मित्र पारसी रुस्तमजी का परिवार उनसे मिलकर गया था।

उन्हें सबसे ज़्यादा तकलीफ गिरमिटियों की भयावह स्थिति देखकर होती थी। उन्होंने अपनी 'आत्मकथा' में स्पष्ट रूप से लिखा है। ''दक्षिण अफ्रीका में हम लोग कुली के नाम से 'प्रसिद्ध' हैं। दक्षिण अफ्रीका में वह कुली शब्द तिरस्कार सूचक है और यह तिरस्कार भंगी, चमार, पंचल इत्यादि शब्दों के द्वारा व्यक्त किया जा सकता है।'' (पृ. 334) उनकी यह अपमानजनक स्थिति केवल गोरों की नज़र में ही नहीं थी व्यवसायियों और उन अंग्रेज़ी पढ़े हुए ईसाइयों की नज़र में भी थी जिनके माता–पिता स्वयं गिरमिटिया थे। गाँधी को जब रेल के डिब्बे से फेंका गया था तो कुली समझकर ही फेंका गया था। उनका सूटेड–बूटेड होना, फर्स्टक्लास का टिकट तथा अपने को बैरिस्टर बताना सब 'कुली' शब्द के सामने नगण्य हो गया था। गाँधी से बेहतर कुली और अस्पृश्य का अर्थ कौन समझता था। भारत में भी अस्पृश्य वर्ग के साथ यही सब होता था। लेकिन व्यवसायी वर्ग शायद इस शब्द का सही अर्थ नहीं समझता था या

समझना नहीं चाहता था। व्यवसायी भी कुली ही माने जाते थे, पर वे अपने को गिरमिटिया 'कुली' से अलग मानते थे। गाँधी की समझ में यह आ गया था कि बिना सही अवसर आये 'व्यवसायी कुली' और 'गिरमिटिया कुली' के बीच की दूरी कम करना आसान नहीं होगा। 22 मई 1894 तक, जब 'नेटाल इंडियन कांग्रेस' की स्थापना हुई, इन दोनों वर्गों के बीच किसी तरह की न कोई पहचान थी, न संवाद, न उसकी संभावना।

अनुबंध का एक वर्ष पूरा होने पर दादा अब्दुल्ला ने क्लेयर रोड स्थित अपने घर पर गाँधी की विदाई की दावत दी थी। वहीं पर गाँधी ने अखबार में पढ़ा था कि नेटाल संसद के सामने भारतीय मताधिकार से संबंधित बिल विचाराधीन है। गाँधी ने ही वहाँ पर उपस्थित व्यवसायियों को उस ख़बर और उससे संबंधित खतरों से आगाह किया था। यहाँ पर यह सवाल उठता है कि अगर गाँधी को वहाँ नहीं रहना था तो उन्होंने उस खबर के साथ जुड़े खतरों से उन लोगों को क्यों अवगत कराया? वे यह भी जानते थे कि वह सब लोग अपनी स्थितियों की विषमता से अनभिज्ञ और लापरवाह हैं। व्यवसाय के सिवाय उन्हें दूसरी बात नहीं सूझती, अगर वे जान भी जायें तो उससे क्या होने वाला है। वैसे भी वह उनकी विदाई का कार्यक्रम था। उसके पीछे दो ही तर्क हो सकते थे कि वह वहाँ पर बसे भारतीयों की समस्याओं के प्रति संवेदनशील थे और डरबन पहुँचने के पंद्रह दिन के अंदर एक के बाद एक जो ताबड़तोड़ बेइज्ज़तियाँ हुईं थीं वे सब उनके दिल पर नक्श हो गई थीं। दादा अब्दुल्ला तक ने तट पर उतरते ही उन्हें 'सफेद हाथी' की संज्ञा दी थी। यह भी उल्लेखनीय है तब तक वे महात्मा नहीं हुए थे और न उन्होंने अपने आपको 'डि–क्लास' ही किया था। उस समाचार को बताने के पीछे एक और तर्क ही संभावना है कि क्यों न इन व्यवसायियों को टटोला जाये जो इस देश में रह रहे भारतीयों के सिरमौर है, कि वे अपने और अपने देशवासियों के अपमान के प्रति कितने जागरूक हैं? दो पंक्तियों के उस समाचार से कोई बात स्पष्ट नहीं होती थी। जो कुछ गाँधी ने उन्हें बताया था वह भी उनके क़यास की ही उपज थी। हालाँकि कोई भी समझदार आदमी इतना तो समझ ही सकता

था कि नेटाल सरकार भारतीयों से संबंधित मताधिकार बिल नेटाल में बसे कुलियों को अपने समकक्ष बैठाने के लिए तो नहीं लायेगी।

आरंभ में तो गाँधी ने एक महीने रुककर मताधिकार की लड़ाई को आगे बढ़ाने के लिए ही व्यवसायी वर्ग का आग्रह स्वीकार किया था। परंतु बाद में उन्हें लगा था कि वह लड़ाई लम्बी चलेगी। सम्मान ही प्रेरक नहीं होता अपमान भी कई बार संघर्ष की प्रेरणा देता है। उन्होंने दो स्तरों पर लड़ाई शुरू की – एक थी सब भारतीयों को एक मंच पर लाकर एकजुट करने की लड़ाई। दूसरी थी मताधिकार बिल का विरोध। वे जान रहे थे कि वे एक अंधेरी गुफा से गुज़र रहे हैं। कहाँ पहुँचेंगे किसको पता था। मताधिकार के प्रश्न पर आयोजित पहली बैठक में मुख्यतः दो वर्ग मौजूद थे – व्यवसायी और 1860 के बाद जन्मे भारतीय मूल के वे लोग जो ईसाई हो गये थे और अपने को गोरों के नज़दीक मानते थे। व्यवसायियों में हिंदू–मुसलमान दोनों थे। उनके अलावा छोटे व्यवसायी जैसे फेरीवाले, छोटी–छोटी गुम्टियाँ रखकर रोज़ी–रोटी कमाने वाले, दफ्तर और फ़र्मों में सेवारत कर्मचारी। ये सब एक–दूसरे को स्वीकार्य थे। गाँधी ने जो पहला भाषण दिया उसमें उन्होंने भारतीयों के नेटाल में होने वाले अपमान को अपने देश की अस्मिता और आत्मसम्मान से जोड़ा। व्यवसायी और नौकरी–पेशा लोगों पर भी आक्रमण किया, ''आप में जो व्यवसायी पैसा कमाने को अपना उद्देश्य समझते हैं, नौकरीपेशा लोग तनख़्वाह पा लेना ही सर्वोपरि मानते हैं . . . उन्हें यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिये कि वे गुलामी से दो–चार हो रहे हैं . . . यह बिल उस गुलामी के रंग को और गाढ़ा कर देगा।''

नेटाल में रह रहे भारतीय समुदाय को, एक स्वतंत्र व्यक्ति के रूप में जो अब प्रतिबंधित नहीं रहा था, संबोधित करने का गाँधी का वह पहला अवसर था। गिरमिटियों को लेकर उनके मन में जो पीड़ा थी उसे पहला अवसर मिलते ही उन्होंने बेबाक ढंग से अभिव्यक्त किया, कि मुझे एक बात की ज़रूर तकलीफ है हमारे गिरमिटिया साथी आज यहाँ मौजूद नहीं है। उनकी तकलीफ़ हम सबसे बड़ी है। कुर्बानी भी वे ही देंगे और अंततः वे ही इस संघर्ष के मंच पर पतवार साबित होंगे। आप सब क्या उन्हें अपने साथ जोड़ने को

तैयार हैं? वरना आप भी उन गोरों से बद्तर हो जायेंगे जिन्हें आप सब में से बू आती है। सबने हाथ उठाकर उनकी बात को स्वीकार कर लिया था।

गाँधी की यह पहली विजय थी। उन्हें उस समय शायद यही महसूस हुआ होगा कि भारत का एक भरा–पूरा हिस्सा वहाँ मौजूद है, या संभावना है। कुछ समय बाद जब न्यूकैसल के मज़दूरों ने अपना घर बार छोड़कर अपने अधिकारों के लिए सरकार के विरोध में जोहान्सबर्ग तक पदयात्रा की तो गाँधी का यह कथन काफ़ी हद तक सही साबित हुआ कि गिरमिटिया उस संघर्ष के पतवार थे। व्यवसायी वर्ग लुके–छिपे आर्थिक सहायता दे रहा था और वे मज़दूर जो त्याज्य माने जाते थे सब कुछ त्याग कर, अप्रशिक्षित सिपाहियों की तरह बाल–बच्चों के साथ पद यात्रा कर रहे थे। उनमें पिछड़े और दलित अधिक थे। वह ज़माना था जब गाँधी अहिंसा, सत्याग्रह और सत्य को सिद्ध कर रहे थे। सत्य को वे ईश्वर मान चुके थे। उनके लिए सत्य अंतर्वर्ती या अनित्य नहीं था। वह स्थायी और अनंत था। एकांकी भी नहीं था, बहुआयामी था। वे हर व्यक्ति को अपना सत्य खोजने के लिए प्रेरित करते थे। सत्य का स्वरूप भले ही एक हो परंतु हर व्यक्ति की दृष्टि, उसे स्वीकार करने का मंतव्य और माध्यम, अलग–अलग होते हैं। गाँधी ने इस बात को समझ लिया था।

जैसा कि पहले भी कहा गया है कि उन्हें पोरबंदर, राजकोट आदि से लेकर दक्षिण अफ्रीका तक गोरों द्वारा की जाने वाली उपेक्षा और अपमान का सामना करना पड़ा था। हालाँकि गाँधी तब तक एक सामान्य व्यक्ति ही थे। लेकिन वे यह समझ चुके थे कि अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ भौतिक स्तर पर युद्ध करना असंभव है। उसके लिए वे अपनी लड़ाई का ढंग उसी तरह विकसित कर रहे थे जैसे औरंगज़ेब से लड़ने के लिए शिवाजी ने किया था या चीन में माओ ने युद्ध की गुरिल्ला पद्धति विकसित की थी। गाँधी में आक्रोश था पर साथ ही साथ उन्होंने उसे समन्वित करने की क्षमता विकसित कर ली थी। वे क्रांतिकारी थे परंतु उनकी क्रांतिकारिता विध्वंसक नहीं थी। उन्हें यथास्थितिवादी माना जाता है क्योंकि परिवर्तन लाने की उनकी

पद्धति आक्रामकता से न निकलकर आत्मसंयम और सहिष्णुता से जुड़ी थी। इन दोनों गुणों को पहले व्यक्तिगत स्तर पर विकसित करना होता है। उसके बाद ही उन्हें समाज में प्रस्थापित किया जा सकता है। यह कठिन काम था क्योंकि युद्ध के स्वीकृत मानकों से भिन्न था। गाँधी के इस सामाजिक लेकिन व्यक्तिपरक युद्ध के विज्ञान को समझे बिना किसी निर्णय पर पहुँच जाने की जल्दी में अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्यों को अक्सर नज़रअंदाज़ कर देना पड़ता है। गाँधी की यह सीमा थी या उसे शक्ति कहिये कि अपनी लड़ाई के लिए उन्होंने किसी बाहरी को नहीं साधा। न शस्त्रास्त्र ही एकत्रित किये। गाँधी के सामने विश्व राजनीति की तस्वीर अपेक्षाकृत साफ़ थी। उन्होंने दूसरे विश्वयुद्ध के समय भी हिटलर को लिखा था कि तुमने विश्वयुद्ध की शुरुआत की है इसे समाप्त करने की भी ज़िम्मेदारी तुम्हारी है। गाँधी यदि विश्व प्रचलित युद्ध–पद्धति को अपनाते तो उनकी निर्भरता दूसरे शक्तिशाली राष्ट्रों पर बढ़ जाती। उन का एक 'गोस्पल' आत्मनिर्भरता भी था। सामाजिक और आर्थिक क्षेत्र में तो था ही, उन्होंने आत्मनिर्भरता को भी अपने इस संघर्ष का एक अविभाज्य अंग बना लिया था। गाँधी अहिंसक युद्ध के साथ उन सब राष्ट्रों को जोड़ना चाहते थे जो साधनहीन थे और जहाँ आर्थिक और राजनीतिक विपन्नता ही नहीं थी बल्कि दरिद्रता भी थी, जिससे वे देश भी किसी शक्तिशाली राष्ट्र के मुकाबले अपनी इच्छा–शक्ति और जुझारूपन के बल पर आत्मविश्वास और आत्मनिर्भरता के साथ लड़ सकें। आज बायोलोजिकल और कैमिकल वार–फेयर के युग में ऐसे राजनीतिक संघर्ष की कल्पना करना संभव नहीं जहाँ सब एक–दूसरे से डरे हुए हों। भय गाँधी के संघर्ष में सबसे अधिक त्याज्य पक्ष था।

दक्षिण अफ्रीका में शासन के विरुद्ध अपने इस अहिंसक युद्ध की शुरूआत उन्होंने तार द्वारा की थी। मताधिकार बिल पर एक तार द्वारा वहाँ की संसद के स्पीकर को, भारतीयों की प्रतिक्रिया से अवगत कराते हुए निर्वाचन को रोकने का आग्रह किया गया था। उस तार की प्रति, कुछ व्यवसायियों के विरोध के बावजूद, उन्होंने प्रेस को भेज दी थी। इसे उनकी राजनीतिक दृष्टि और पारदर्शिता

का प्रमाण कहा जा सकता है। समाचारपत्रों का उपयोग वे एक वर्ष पूर्व भी कर चुके थे, जब उन्हें पगड़ी पहने होने के कारण 'कोर्टरूम' छोड़कर जाना पड़ा था। उनके तार का नतीजा हुआ कि निर्वाचन दो दिन के लिए रोक दिया गया। कुली बनकर रह रहे भारतीयों के लिए यह एक बहुत बड़ी उपलब्धि थी। दो दिन के अंदर ही एक विस्तृत प्रत्यावेदन भेजने की जिम्मेदारी निबाहने का काम गाँधी के कंधों पर आ गया था। तत्काल एक प्रत्यावेदन तैयार किया गया और उस पर रात ही रात में हज़ारों लोगों के हस्ताक्षर और अंगूठे के निशान एकत्रित किये गये। गिरमिटिया वर्ग की प्रतिभागिता किसी जातीय कार्य में पहली बार हुई थी। इस प्रत्यावेदन की प्रति भी अखबारों को भेज दी गई थी। उस पर सकारात्मक प्रतिक्रियायें भी आयीं थीं। यह उस लड़ाई का पहला बिगुल था जो बाद में धीरे–धीरे गहन होती गई। असफलताओं के बीच गाँधी ने सफलता के लिए संघर्ष जारी रखा। इस तरह की लड़ाई का निर्णय जल्दी नहीं होता। धैर्य और प्रतीक्षा ही इस लड़ाई का मूलमंत्र था। गाँधी इस बात को समझ गये थे कि इस तरह के संघर्ष में अस्वीकृति ही स्वीकृति की पृष्ठभूमि तैयार करती है और स्वीकृति कई बार झटका दे देती है।

गाँधी का सत्याग्रह अहिंसा, संयम, आत्मनिर्भरता और परस्पर सहयोग पर आधारित था। आप हमारे विरुद्ध शक्ति का प्रयोग कीजिये। हम सहन करके ही उसका विरोध करेंगे। नेल्सन मंडेला ने अपनी आत्मकथा में लिखा है कि मैं गाँधी के सिद्धान्तों से कभी सहमत नहीं था। परंतु अपने देश की आज़ादी के लिए मेरे पास उनके रास्ते का अनुगमन करने के सिवाय दूसरा विकल्प नहीं था। यह लड़ाई भौतिक युद्ध लड़ने वाले योद्धाओं से ज़्यादा जुझारूपन की माँग करती है। बिना जुझारू बने सत्याग्रह जैसी कठिन लड़ाई लड़नी संभव नहीं थी। खासतौर से ऐसी ताकत के खिलाफ जिसके राज्य में कभी सूरज न डूबता हो और लड़ाकू जहाज़ हर समय पानी पर तैरते रहते हों।

गाँधी सामाजिक स्तर पर भी एक दूसरी लड़ाई लड़ रहे थे। हृदय परिवर्तन की। हृदय परिवर्तन को ही उन्होंने सामाजिक परिवर्तन के उपकरण के रूप में इस्तेमाल किया। इस लड़ाई की अपनी सीमायें

हैं। इसमें दोनों पक्षों की सहमति ज़रूरी है। इसलिए इसकी प्रक्रिया भी लम्बी है। व्यक्तिगत स्तर पर भी और सामाजिक स्तर पर भी। इसका संबंध इच्छाशक्ति से ज़्यादा है। उत्पीड़न और उत्पीड़ित का विचित्र रिश्ता होता है। उत्पीड़क अपने से कमज़ोर को पीड़ा पहुँचाने, अपमानित करने, तथ्यों को अपने ढंग से तोड़–मरोड़कर समझने–समझाने में पारंगत होता है। वह इन सब तरीकों का उपयोग अपने ढंग से अपने स्वार्थ में करता है। वह चाहता है कि पीड़ित उसकी अपेक्षाओं पर खरा उतरे और उसके द्वारा किये जाने वाले अत्याचारों को अपने जीवन का हिस्सा समझकर वहन करे। गाँधी ने इस वास्तविकता को दक्षिण अफ्रीका में नज़दीक से देखा। उसका सामना भी किया था। वहाँ उसका विस्तार सीमित था।

गाँधी का पहला प्रयोग तो दादा अब्दुल्ला और तैयबजी को लेकर ही हुआ था। अगर मनोवैज्ञानिक गाँठ को पहचानकर निकाल दिया जाय तो हृदय परिवर्तन की प्रक्रिया आसान हो जाती है। आज़ादी के संघर्ष के दौरान साम्प्रदायिकता की इस मनोवैज्ञानिक गाँठ को निकालने की दृष्टि से गाँधी ने खिलाफत में अली भाइयों से सहयोग किया था। जिसे बाद में 'हिमालयन ब्लंडर' के रूप में देखा गया। दक्षिण अफ्रीका में गाँधी ने इस प्रयोग को दो स्तरों पर किया। एक ईसाई युवकों और व्यवसायियों के बीच की दूरी कम करके। दूसरा गिरमिटिया वर्ग और अन्य वर्ग के भारतीयों को एक मंच पर लाकर। जितनी तरह की ग्रंथियाँ उन लोगों के बीच थी उनको निकाले बिना हृदय परिवर्तन संभव नहीं था। हृदय परिवर्तन द्वारा ही संबंधों में सहजता संभव होती है। गाँधी ने पहले दक्षिण अफ्रीका में सभी वर्गों के बीच, चाहे आर्थिक वर्ग हो, या धार्मिक या फिर जातीय वर्ग हो, एक रिक्तता या जगह बनाई जिसमें संबंधों की सहजता को स्थान मिल सके। बाद में इस प्रक्रिया की पुनरावृत्ति विशद स्तर पर भारत में हुई। भारत में जितने वर्ग थे, जितनी दूरियाँ थीं और उनका जितना विस्तार था, उनको देखते हुए यह काम आसान नहीं था। पूरा समाज पूर्वाग्रहों और नफरत के बर्फ़ के बीच इस तरह जमा हुआ था कि बिना उसे पिघलाये संबंधों को सहज बनाना संभव नहीं था। बहुत कुछ पिघला भी, निकटता भी आयी। परंतु कई तरह के

व्यक्तिगत अहं और परिस्थितियाँ रुकावट बनती रहीं। अछूतोद्धार आंदोलन उसी बर्फ़ को पिघलाने का एक विवादास्पद और संघर्षशील प्रयोग था। आज भी इतनी गर्द फैली हुई है कि उसके बीच कुछ भी साफ नज़र नहीं आता।

सच पूछिये तो गाँधी का 'अछूतोद्धार' आंदोलन अपने में एक सम्पूर्ण पाठ है। उसका विखंडन ज़रूरी है। उसमें हो सकता है कुछ लोगों के लिए पत्थर ही ज़्यादा हों पर कुछ चमकदार हीरे भी मिल सकते हैं। गाँधी ने एक बहुत बड़े, धार्मिक सत्ता–सम्पन्न और कट्टरपंथी वर्ग को हृदय परिवर्तन के लिए चुनौती दी थी। अछूत वर्ग तो पीड़ित वर्ग था। बाकी सभी लोग उस चुनौती के घेरे में आते थे, और हैं। इतने बड़े वर्ग को दी गई चुनौती उनके अपने लिए भी चुनौती बन गई थी। धार्मिक सत्ता–संपन्न ब्राह्मण वर्ग तो था ही, उसके पीछे क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र माना जाने वाला वर्ग भी था। उसके अलावा डॉ. अंबेदकर जैसे बुद्धिजीवी थे, जो गाँधी के कार्यक्रम से पूरी तरह असहमत थे। गाँधी ने उनकी नाराज़गी को कभी तर्कहीन नहीं माना। वे उनसे सहमत होते हुए भी अपने कार्यक्रम के प्रति समर्पित रहे। शायद इसी कारण दलित वर्ग द्वारा आज गाँधी खलनायक की भूमिका में रख दिये गये हैं। समाज के इस कोढ़ को दूर करने के लिए वे हृदय परिवर्तन की प्रक्रिया को महत्त्व देते थे। लेकिन सवाल था वह हृदय परिवर्तन कैसे हो? हिंदू जातीय वर्ग ज्यादा कट्टर था। उससे लड़ाई ठानकर गाँधी को अपमानित भी होना पड़ा और प्रताड़ित भी और अंत में हत्या। उन्होंने अपने सहयोगियों की नाराज़गी के मूल्य पर अछूतोद्धार को आज़ादी की लड़ाई का एक हिस्सा बना दिया था। लेकिन बात इससे भी नहीं बनी। गाँधी इस लड़ाई को जी जान से लड़ रहे थे। जितने जी जान से वे लड़ रहे थे उतने ही जी जान से उनका विरोध भी हो रहा था।

अस्पृश्यता और गाँधी का अंतःसंघर्ष

एक सवाल कई बार दिमाग में आता है, गाँधी एक परंपरावादी परिवार और वैष्णव पृष्ठभूमि की उपज हैं, फिर उनका हरिजन विमर्श, जो अब दलित विमर्श है, की तरफ रुझान क्यों और कैसे हुआ? उनकी बा पुतलीबाई प्रणामी सम्प्रदाय से जुड़े परिवार से थीं जिसमें मूर्तिपूजा का पूर्णतया बहिष्कार था। प्रणामी मंदिर में दीवारों पर कुरान की आयतों से मिलती–जुलती इबारत खुदी थी। उस मन्दिर के हिंदू पुजारी का लिबास भी मुसलमानों जैसा था। प्रणामी सम्प्रदाय के संस्थापक प्राणनाथ की गद्दी के एक तरफ कुरान और दूसरी तरफ बाइबिल की प्रतियाँ रखी थीं। बीच में प्राणनाथ जी की पगड़ी प्रतीक रूप में रखी रहती थी। मोहनदास के विवाह के बाद उनकी बा, बहू और बेटे को एक बार उस मन्दिर में ले गई थी। लेकिन पुतलीबाई गाँधी परिवार में वधु के रूप में आने के बाद पूरी तरह मूर्तिपूजक हो गई थीं। वैष्णव ढंग से पूजा करती थीं। पूजा जैसे ही समाप्त होती थी तो घर का पुरोहित भजन गाता हुआ आता था। उसे दान दक्षिणा देती थीं। व्रत आदि रखती थीं। पति कबा गाँधी पूरी तरह वैष्णव थे। उनका तुलसीकृत रामायण में गहरा विश्वास था। लद्धा महाराज से प्रतिदिन तुलसी रामायण का पाठ सुनते थे। जब बीमार थे तो सभी धर्मों के संत और विद्वान उनके पास आते थे और धार्मिक मुद्दों पर विचार विमर्श करते थे। मोहन दास एक बालक के रूप में उनकी बातें सुनते थे और समझने की कोशिश करते थे। उनके पिता की मृत्यु के बाद, उनकी बा के यहाँ जैन साधुओं के प्रवचन होते थे जिनमें जीवन की पवित्रता और सद्कर्म पर ही ज़ोर होता था।

गाँधी का विकास प्रणामी सम्प्रदाय, वैष्णव तथा जैन प्रवचनों के बीच हुआ था। यद्यपि प्रणामी सम्प्रदाय के संस्थापक ने अपनी एक पुस्तक *कयामतनामा* में लिखा कि : 'गोस्पल्स' में लिखा है कि सबका स्वामी ईसामसीह है, वही आएगा और न्याय करेगा। लेकिन गाँधी आरम्भ में ईसाई धर्म के विरुद्ध थे। गाँधी का मानना था कि ईसाई धर्म, जातियों पर आधिपत्य जमाने वाला धार्मिक साम्राज्यवाद है। बाद में चलकर हिंदू धर्म को उन्होंने हरिजनों के संदर्भ में भी धार्मिक साम्राज्यवाद के रूप में देखा। एक और तत्त्व ने उनके धार्मिक मानस के निर्माण में काम किया। वह था रंभा तत्त्व। रंभा परिवार की नौकरानी थी। बालक की देखभाल करती थी। मोहनदास डरपोक थे। रात के समय जब उन्हें ज़ीना चढ़कर ऊपर जाने में डर लगता था तो रंभा बताती थी जब तुम्हें डर लगे तो 'रामनाम' लेते हुए चढ़ते चले जाओ। राम नाम ने उन्हें बहुत बल दिया था। हालाँकि वे 'राम' को शायद ही जानते हों। यहाँ तक कि उन्होंने अपनी *आत्मकथा* में इक्कीसवें परिच्छेद का शीर्षक 'निर्बल के बल राम' दिया है। यह आकस्मिक भी हो सकता है। कहने का अर्थ है 'राम' ने उनके जीवन में एक अपरिवर्तनीय स्थान बना लिया था।

मोहनदास ने इस बात को स्वीकार किया है कि उनके माता पिता ने, खासतौर से उनकी बा ने, आस्था और विश्वास के स्तर पर उन्हें सबसे ज़्यादा प्रभावित किया। सहनशीलता और सब धर्मों का सम्मान करना उन्होंने अपने बापू से सीखा था। बा ने उन्हें आस्था का अवदान दिया था जो उन्हें जीवन का दिशा निर्देश देता रहा। लेकिन वे बा की इस बात को कभी नहीं मान पाये कि एक दलित को छूना पाप है या मंदिर जाना एक हिंदू की आस्था का आधार होता है। कभी–कभी लगता है कि सर्वधर्म के प्रति उनकी आस्था परिवर्धन में कबा गाँधी और पुतलीबाई दोनों का गहरा योगदान रहा है। इसके बावजूद गाँधी की सम्पूर्ण धार्मिक पृष्ठभूमि एक इकाई की तरह नहीं है। उसमें समन्वय भी है एक तरह का विरोधाभास भी। विरोधाभास शायद इसलिए, बालपन से ही उनमें प्रश्नाकुलता थी तथा विद्रोही स्वभाव था। उदाहरण के लिए बा के प्रति अत्याधिक स्नेह और आदर रखने के बावजूद वे उनके साथ 'हवेली' यानी मंदिर जाते थे परन्तु

उनके कहने पर भी वे अन्दर नहीं जाते थे। यह बात बा को दुखी और नाराज़ करती थी। मंदिरों के प्रति उनकी उदासीनता बाद के व्यवहार में भी नज़र आती है। उनके प्रति उनका तथाकथित दुराग्रह ज़्यादा पुख़्ता होता गया। दक्षिण अफ्रीका से लौटने के बाद गोखले के आग्रह पर जब उन्होंने तीसरे दर्जे में भारत भ्रमण करने का निर्णण लिया था, उससे पूर्व 1891 में उन्होंने प्रार्थना समाज मंदिर में काशी भ्रमण के बारे में व्याख्यान सुना था। काशी में उन्हें उस भाषण का ध्यान आया तो विश्वनाथ मंदिर के दर्शन करने गये। उस घटना का उन्होंने अपनी *आत्मकथा* में उल्लेख किया है– ''जहाँ मनुष्य ध्यान एवं भगवच्चिन्तन की आशा रखता हो, वहां उनका नामोनिशान नहीं था।'' (पृ. 280)। उन्होंने आगे लिखा है – ''मंदिर पहुँचते ही मैंने देखा कि दरवाज़े के सामने सड़े हुए फूल पड़े थे ओर उनमें दुर्गन्ध आ रही थी। बढ़िया संगमरमरी फर्श था। उस पर किसी अंधश्रद्धालू ने रुपये जड़ रखे थे और उनमें मैला कचरा भरा था'' (पृ. वही)। मंदिरों के प्रति उनका धर्मान्धता से ऊपर उठकर सोचना और इस बात की परवाह न करना कि उनकी बा की मंदिर में गहरी आस्था है और अपने आपको उन सब आग्रहों से मुक्त करके मन्दिर की गंदगी और अव्यवस्था को ही देखना कहीं न कहीं धर्मान्धता के प्रति विद्रोह ही था। गाँधी उसके बाद भी दो बार वाराणसी गये परन्तु उन्होंने फिर कभी विश्व भर के हिन्दुओं के आस्था केन्द्र विश्वनाथ मंदिर की तरफ रूख नहीं किया। हिंदू मन्दिरों में पूजा–अर्चना के लिए वे जीवन भर नहीं गये। बाद में हरिजनों के मन्दिर प्रवेश के समय सामाजिक और राजनीतिक कारणों से जरूर गये। वह अपवाद है। यह भी अपने आप में विरोधाभास है कि जो व्यक्ति अपने लिए मंदिर जाना अनावश्यक समझता रहा हो उसी व्यक्ति ने जातीय हिन्दुओं के हृदय परिवर्तन और छुआछूत को मिटाने के लिए अपनी प्राथमिकताओं में हरिजनों के मंदिर प्रवेश को सर्वोच्च महत्त्व दिया। इस विरोधाभास का कारण क्या केवल राजनीतिक ही है जो बचपन से बढ़ते–बढ़ते वहाँ तक पहुँचा?

एक दूसरी घटना भी इस मनोविज्ञान से जुड़ी हुई नज़र आती है। मोहनदास बारह वर्ष के थे। उनका हम उम्र हरिजन लड़का 'उका'

पाखाना साफ करने और आँगन बुहारने आता था। वह गाँधी का मित्र हो गया था। उन्होंने लिखा है कि वे अपनी बा से हमेशा यही पूछते थे – उका को छूने में क्यों दोष है? उसे छूने से उन्हें क्यों रोका जाता है? मोहनदास अगर उका को छू देते थे उन्हें नहाना पड़ता था। बा की भावना को ध्यान में रखकर वे वैसा कर लेते थे। लेकिन बा से स्पष्ट कहते भी थे उनका यह कहना गलत है कि उका को छूना पाप है। मां पारिवारिक अनुशासन और आस्था की आधारशिला होती थी। एक सीमा तक आज भी है। मोहनदास जैसे आज्ञाकारी पुत्र का यह सब सोचना ही, कहना तो और भी ज़्यादा, मां की सत्ता के प्रति विद्रोह सरीखा था। 'उका' यानी एक दलित लड़के के लिए मातृसत्ता का विरोध करने का मोहनदास को कभी पश्चाताप नहीं हुआ।

विष्णु पूजन से संबंधित श्लोकों में 'जले विष्णु, स्थले विष्णु' आता है। जल में भी विष्णु और थल में भी विष्णु हैं। वैष्णवों के आराध्य विष्णु हैं। मोहनदास का प्रश्नाकुल मन पूछता था – ''अगर जल और थल में विष्णु हैं तो 'उका' में क्यों नहीं? बात यहीं खत्म नहीं होती। 'रामरक्षा' स्तोत्र भूत का भय भगाने वाला माना जाता है। बालक मोहनदास का दूसरा प्रश्न होता था कि जब 'रामरक्षा' भूत का भय भगा सकता है तो छूत का भय क्यों नहीं भगा पाता? गाँधी अपने बचपन में भी छुआछूत को भय की तरह मानसिक विकार ही मानते थे, वास्तविकता नहीं। भय एक मनोवैज्ञानिक अवरोध मात्र है। गाँधी की यह प्रश्नाकुलता ही उन्हें अस्पृश्यता के मर्म तक पहुँचाने में मदद करती थी। कहाँ तक पहुँच पाते थे कहाँ तक नहीं यह बात अलग है। अपनी इस प्रश्नाकुलता के कारण उन्हें बाद में कई कठिनाइयों और विरोधों का सामना करना पड़ा। क्योंकि इस तरह के मानसिक अवरोधों से लड़ने के उनके उपकरण सामान्य लोगों से भिन्न थे।

इस संदर्भ में एक और तथ्य की ओर 'द अर्ली फेज़' में प्यारे लाल जी ने ध्यान दिलाया है कि मनुस्मृति में 'अहिंसा' और 'मांस भक्षण' के बारे में परस्पर विरोधी पाठ है। गाँधी के मन में वह भ्रम पैदा करता था। शायद इसी भ्रम के कारण उन्हें मांस भक्षण के क्षेत्र में अपने मित्र के कहने पर अंग्रेज़ों को देश से भगाने के लिए मांस

खाने का प्रयोग भी करना पड़ा था। माँस भक्षण भी अपवित्रता का एक कारण माना जाता था। सवर्णों में यद्यपि काफी लोग माँस भक्षण करते थे परन्तु उसे अस्पृश्यता का मुख्य कारण भी मानते थे। अब भी माना जाता है। अहिंसा के संदर्भ में भी उन्होंने अपने बुजुर्गों से जानना चाहा था कि क्या सांप, और बर्र आदि को मारना नैतिक है? इस प्रश्न का संतोषजनक उत्तर न मिलने पर उनकी आस्था इस तरह की रूढ़िवादिता से उठती गई थी। वैष्णव मन्दिर में होने वाले व्यभिचार की कहानियों ने गाँधी को धार्मिक अन्धविश्वास, उसके खोखलेपन और अपने बुजुर्गों की अंध मान्यताओं से विरत किया था। भ्रष्ट हिंदूवाद और नास्तिकता के बीच उन्हें नास्तिकता सक्षम विकल्प लगा था। दक्षिण अफ्रीका में रहते हुए उन्होंने फादर जोज़फ डोक (जो उनके जीवनी लेखकों में भी हैं) से कहा था ''कुछ समय के लिए मैं एक हद तक नास्तिक था।'' (महात्मा गाँधी, द अर्लीफेज़, प्यारेलाल, पृ. 217) इस पूरी मानसिक उधेड़बुन के चलते वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि किसी भी चीज़ का आधार नैतिकता है और नैतिकता का आधार सत्य है। सत्य परंपरागत धर्म नहीं, मानवीय धर्म है। आचार मूलक विश्वास और आस्था है। उसे उन्होंने ईश्वर का पर्याय मान लिया था। कोई भी आस्थावान और धर्म को मानने वाला, जिसमें ईश्वर या ईश्वरों की अलग सत्ता हो, इस तरह के मानवाचार को ईश्वर का दर्जा नहीं देगा और देता है तो वह उसकी धर्म के प्रति अनास्था का प्रमाण ही कहा जाना चाहिए। आप इसे न सही पूरी तरह, पर आंशिक ही सही, नास्तिकता की संज्ञा भी दे सकते हैं। न भी दें तो भी वास्तविकता में कोई अन्तर नहीं आता।

मोहन दास गाँधी, बचपन से ही किसी बात को यथावत स्वीकार नहीं करते थे। उनकी प्रश्नाकुलता उन्हें लगातार यथास्थिति से विपरीत दिशा में ले जाती थी। उसे उनकी विद्रोही मानसिकता का एक पक्ष कहा जा सकता है। धर्म हो या पारिवारिक परंपरा उस सबको वे अपनी तरह से अपने प्रश्नों की कसौटी पर कसने की कोशिश करते थे। वह कसौटी भले ही शुरू में उतनी, परिपक्व न रही हो। परन्तु बाद में उसने एक ऐसी कसौटी का रूप ले लिया था जिसने आगे चलकर दूसरों के लिए कठिनाई उत्पन्न

की। उका की घटना हो या साँप या कीड़ों को मारने का अहिंसा से जुड़ा सवाल हो, मन्दिरों में जाकर पूजा–अर्चना और धर्म की धार्मिक सत्ता को स्वीकार करने का प्रश्न हो, सब को समझने और उसके अनुसार अपने व्यवहार को संयोजित करने' का उन्होंने अपना स्वतंत्र अनुशासन निर्मित किया था। सहमति असहमति से उसका कोई संबन्ध नहीं है। ये सब स्थितियाँ जहाँ प्रश्नों को जन्म देती थीं वहीं उनका संतोषजनक निदान न मिलने पर विद्रोही भावना भी उत्पन्न करती थीं। मोहन दास का बा से यह पूछना उका को छूने में क्या दोष है? उसका संतोषजनक यानी तर्क संगत उत्तर न पाने पर बा से स्पष्ट शब्दों में यह कहना कि उका को छूने को पाप मानना सर्वथा गलत है, ऐसा लगता है कि यही वह प्रस्थान बिन्दु था जहाँ से बा के प्रति अपने प्यार, आदर और श्रद्धा का अतिक्रमण शुरू हुआ और तथाकथित अस्पृश्यता संबन्धी सामाजिक मान्यताओं, व्यावहारिकताओं के विरुद्ध गाँधी ने सोचना शुरु कर दिया। गाँधी का विद्रोह पहले आन्तरिक होता था। बाह्यस्थितियाँ उनके विद्रोह से धीरे–धीरे प्रभावित होती थीं। जबकि सामान्यतः आन्तरिक विद्रोह और उसकी बाहरी अभिव्यक्ति समव्यस्क होती है। विद्रोह के साथ ही विद्रोह और उसकी बाहरी अभिव्यक्ति समव्यस्क होती है। विद्रोह के साथ ही विद्रोह की अभिव्यक्ति को ही विद्रोह समझा जाता है। गाँधी के साथ ऐसा नहीं था। उनकी सम्पूर्ण चिन्तन प्रक्रिया का विश्लेषण करने पर यह लगेगा कि पहले वे असन्तोष, हर अन्यायपूर्ण स्थिति को उसी परिवेश के संदर्भ में सोचने–समझने और अन्दर ही अन्दर उसे व्यावहारिक रूप देने की कोशिश करते थे। यह प्रयोगात्मकता कई बार गाँधी को यथास्थितिवादी और भ्रामक स्थिति में रखकर गलतफहमी का शिकार बना देती थी। विभिन्न प्रयोगों के माध्यम से उन स्थितियों को समझने के बाद जिस निष्कर्ष या निष्कर्षों पर गाँधी पहुँचते थे वे निष्कर्ष उनके लिए अटल होते थे। उनका अटल बने रहना भी उन्हें गलतफहमी के साये में ले आता था। अपने सगे संबन्धियों तक की गलतफहमी का भी शिकार होते थे। पढ़ने के लिए लंदन जाने के कारण उन्हें बिरादरी बाहर कर दिया गया था। यहाँ तक कि उनके बहनोई ने उनका ही रुपया उन्हें देने से इसी

आधार पर इंकार कर दिया था क्योंकि वे बिरादरी बाहर कर दिये गये थे। उस जमाने में बिरादरी बाहर होकर जीना अपमानजनक तो जो था वह था ही, साथ ही आहत करने वाला भी था। उनके बड़े भाई भी उन्हें बम्बई में छोड़कर लौट गये थे। यहाँ तक कि बहिन रलियत तक ने उनका साथ नहीं दिया था। उका के मामले में बा की अवज्ञा, विदेश जाने के सवाल पर बिरादरी बाहर किया जाना, इतनी कम उम्र में गाँधी द्वारा इस प्रकार की सामाजिक और मानसिक विषमताओं का सामना किया जाना, उनके धैर्य की परीक्षा के लिए संकटपूर्ण क्षण था। उसे उन्होंने धैर्य और दृढ़ता के साथ सहा था। ये सब घटनायें मोहनदास के मानस की बनावट को रेखांकित करती हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध और बीसवीं शताब्दी के आरंभ में हिंदू समाज जितना रुढ़िवादी था, सच पूछिये तो किसी सीमा तक वह आज भी है, इस दृष्टि से सोचा जाये तो गाँधी का संघर्ष अधिक चुनौतीपूर्ण था। किसी भी व्यक्ति के अन्तरचरित को समझने के लिए, चाहे वह विशिष्ट व्यक्ति हो या सामान्य, तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक और मानसिक अन्तर्विरोधों की प्रकृति को जानना भी कम आवश्यक नहीं होता। गाँधी के मानस को, जितना उनकी आत्मकथा और पत्रों आदि से प्रकट है, देखा जाये तो एक बात बहुत शिद्दत से महसूस होती है कि वे निरंतर अपने व्यवहार, सोच और सरोकारों को 'सेंसर' करते रहते थे। दूसरे शब्दों में अपना आत्मालोचन करके अपने आप को तो समझने की कोशिश करते ही थे साथ ही अपने स्तर पर तत्कालीन सामाजिक और राजनीतिक स्थितियों को परिभाषित भी करते थे। इसके कई उदाहरण हैं। चाहे वह माँस भक्षण का प्रश्न हो, या भाई के कड़े से सोना चुराने का, या स्कूल में नकल करने के लिए अध्यापक की चेतावनी को नज़रअन्दाज़ करने का, उका को लेकर माँ से असहमत होने का या फिर पत्नी के साथ अपने शारीरिक संबन्धों का। उनका यह आत्मालोचन उस वक्त भी सक्रिय रहा जब लंदन में या दक्षिण अफ्रीका की यात्रा के दौरान जहाज़ में यात्रा करते समय स्त्रियों के सम्पर्क में आते–आते बचे। हो सकता है इसी आत्मालोचन या 'सेंसर' की प्रक्रिया ने उन्हें

बचाया हो। हालाँकि इसका श्रेय वे ईश्वर को देते हैं। इस तरह की स्थितियाँ हिंदूवादी स्फुलिंग की तरह नज़र आती हैं। माँस भक्षण की घटना एक सीमा तक मनोवैज्ञानिक भी है और साथ ही उसके राजनीतिक आयाम भी हैं। अपने मित्र शेख़ मेहताब के यह समझाने पर कि अगर अंग्रेज़ों को देश से निकालना है तो यह तभी संभव होगा जब मांस खाओगे यानी शक्ति अर्जित करोगे। यह हिंसा को प्रोत्साहन देने की तरह था। जिसे गाँधी ने उस समय नहीं समझा। मोहनदास ने चोरी से माँस खाना शुरू किया था। वह एक सहज प्रक्रिया नहीं थी। मोहनदास के मन पर उसका बहुत दबाव था। धार्मिक मान्यताओं का विरोध, आत्मप्रवंचना, झूठ आदि कई तत्व मोहनदास पर मानसिक दबाव बना रहे थे। खासतौर से माँ से रोज़ जाकर झूठ बोलना कि उसे भूख नहीं, या धोखा देने के लिए मुँह जूठा करके उठ जाना। इन सब बातों के कारण ही उन्हें मांस खाना छोड़ देने का निर्णय लेना पड़ा। इसका एक सकारात्मक प्रभाव भी हुआ। राष्ट्र या 'नेशन' की जो परिकल्पना उस समय उनके मन में अस्पष्ट थी वह इस घटना के बाद एक रूप धारण करने लगी थी। वह उनके मन के एक कोने में पलने–बढ़ने के लिए आरक्षित हो गई थी। राष्ट्र की उस परिकल्पना का हिस्सा उका–प्रसंग भी बीजरूप में था जो बाद में हरिजन आन्दोलन की शक्त में उभरा। जो स्थितियाँ इन मुद्दों को लेकर उनके अन्दर विकसित हो रही थीं और विरासत में मिली थीं वे उनकी नैतिकता के आड़े आ रही थीं। उन्हें स्वीकार नहीं किया। वह नैतिकता कई बातों का मिश्रण थी, परंपरागत धर्म, व्यक्तिगत आस्था और व्यवहार तथा यह सत्य जो धीरे–धीरे एक ऐसी शक्ल अख़्तियार कर रहा था, जिसे उन्होंने बाद में ईश्वर कहा और बाकी सब बातों को उस सत्य के अधीनस्थ कर दिया। नैतिकता की उनकी परिकल्पना भी ब्राह्मणीय नैतिकता से नितांत भिन्न थी। एक सीमा तक उसकी विरोधी।

गाँधी के जीवन की व्यक्तिगत घटनाओं ने भी उनके भावना जगत् के निर्माण में महत्वपूर्ण सहयोग दिया था। छोटी–सी घटना भाई के कड़े से सोना चुराने की। बिना किसी बाहरी दबाव के उन्होंने अपने पिता को पत्र लिखकर अपना दोष स्वीकार किया और माफी

मांगी। वे समझते थे कि पिता नाराज़ होंगे परन्तु उनकी आँखों से बहती जलधारा ने गाँधी के मन का कलुष धो दिया। इस घटना ने क्षमा के महत्व को ही उद्‌घाटित नहीं किया बल्कि स्वच्छ मन से दोष स्वीकार कर लेने के महत्व को जानने में भी सहायता की। शारीरिक संबन्धों को लेकर गाँधी जरूरत से ज्यादा संवेदनशील हो उठे थे। पिता की मृत्यु को उन्होंने सीधे–सीधे पत्नी के साथ अपने सहवास से जोड़कर देखा था। वह भी इस सीमा तक कि पत्नी के गर्भ में पल रहे बच्चे के ज़ाया हो जाने का दोष भी पिता की मृत्यु के समय किये गये सहवास पर थोप दिया था। वे इस अपराधबोध से जीवन भर मुक्त नहीं हो पाये। कभी–कभी तो लगता है ब्रह्मचर्य की परिकल्पना और उसके अनुपालन के पीछे भी बीज रूप में वही घटना है। यह बात अलग है कि बाद में ब्रह्मचर्य के साथ सत्य, अहिंसा अपरिग्रह आदि अनेक पक्ष जुड़ते चले गये। लेकिन बीजरूप में वही घटना उस पूरे विस्तार के मूल में बैठी नज़र आती है। इस घटना के प्रभाव से मोहन दास अपनी सम्पूर्ण तार्किकता के बावजूद मुक्त नही हो पाये। इसी ने उन्हें ब्रह्मचर्य के साथ प्रयोग करने के लिए भी प्रेरित किया। अपने व्यक्तिगत अनुभवों को व्यवहार की कसौटी बनाना, तार्किकता के आधार पर निर्णय लेना और सत्य तक पहुँचने की मानसिकता और फिर सामाजिक मूल्यों और उनके अन्तर्विरोधों के साथ अपने को जोड़कर व्यवहार संधान का प्रयत्न, गाँधी को अपने समकालीनों से अलग करता है। साथ ही प्रयोगधर्मी भी बनाता है। उनके बचपन की अनेक घटनायें उनके बाद के जीवन के लिए गये निर्णयों और प्रयोगों के मूल में है। गाँधी की सफलतायें और असफलतायें दो पलड़ों की तरह उन्हें तोलती रही हैं। अकेलापन और संकुलता दोनों के बीच वह अपने आपको खोजते रहे हैं। इन सब स्थितियों के पीछे उनका एक सम्पूर्ण मनोविज्ञान है। उस मनोविज्ञान ने उनके लचीलेपन को गैर–लचीलेपन में व्यक्तिगत स्तर पर भी और राजनीतिक स्तर पर, बदला है। गाँधी को देखकर लगता है असफलतायें ही उनके जीवन की सबसे बड़ी कसौटी रही हैं और आज भी हैं। उन्होंने उन्हें सफलताओं से कम महत्व नहीं दिया। स्वीकार भी किया। अपने दाम्पत्य जीवन के बारे में, जो

नितान्त व्यक्तिगत भी कहा जा सकता है, अपनी आत्मकथा में, पत्नी को पढ़ाने के रास्ते में आने वाला कारण काठियावाड़ में प्रचलित घूंघट के फैशन को बताया है। उससे भी बड़ा कारण उन्होंने अपनी वासना को कहा है, ''यदि प्रेम विषय से दूषित न हुआ होता तो मैं मानता हूँ आज वह (कस्तूर) विदुषी हो गई होती। उनके पढ़ने के आलस्य पर मैं विजय प्राप्त कर पाता। क्योंकि मैं जानता हूँ कि शुद्ध प्रेम के लिए दुनिया में कोई बात असंभव नहीं।'' (पृ. 15)

कस्तूर को न पढ़ा पाने का मलाल और अपनी विषयलिप्तता से उपजी रोष की छाया उनके दाम्पत्य जीवन पर निरंतर मौजूद रही है। दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह आन्दोलन में कस्तूरबा की अग्रणी भूमिका तथा अन्य महिलाओं की हिस्सेदारी गाँधी के उस प्रायश्चित का प्रतिफल तो नहीं जो उनके मन में कस्तूरबा को, अपनी शारीरिक संलग्नता के कारण, विदुषी न बना पाने के कारण उपजा था? अगर उनको शैक्षिक ज्ञान नहीं दे पाये तो क्या वे उनकी सामाजिक चेतना को भी जागृत नहीं कर सकते थे? यह बात कुछ अटपटी लग सकती है। यह भी लग सकता है कि इस तर्क को अनावश्यक रूप से खींचा जा रहा है। जिस तरह का पिछड़ापन उस समय था उसको देखते हुए महिलाओं को जन आन्देलन से जोड़ना एक क्रांतिकारी कदम था जिसकी परिकल्पना कम से कम भारतीय परिवेश में तब संभव नहीं थी। आज भी अगर संभव है तो इसीलिए क्योंकि गाँधी ने उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में और बीसवीं शताब्दी के आरंभ में महिलाओं को जन आन्दोलन की महत्वपूर्ण भूमिका से जोड़ा था। वरना तब स्त्रियों की स्थिति तालिबान के राज्यों में रह रही महिलाओं की हालत से बेहतर नहीं थी। गाँधी ने इस परिवर्तन की प्रक्रिया उसी समय शुरू कर दी थी जब उन्होंने दक्षिण अफ्रीका आने से पूर्व कस्तूरबा और बच्चों को पारसी पोशाक पहनाकर आधुनिक बनने के लिए बाध्य किया था। जब भी कोई ऐसा परिवर्तनशील कदम उठाया जाता है जो रुढ़ियों को छिन्न–भिन्न करने वाला हो उसके पीछे, सोच तो होती ही है, अन्तःप्रेरणा और संकल्प का होना भी कम आवश्यक नहीं होता। कस्तूरबा से संबन्धित इस प्रश्न को, कि क्या पुरुष अपनी विषय संलग्नता के कारण स्त्रियों को फूहड़ बनाकर बिस्तर तक ही

सीमित रखे, उन्होंने समस्त भारतीय नारी समाज से जोड़ कर देखा। आज दलित और स्त्री विमर्श का प्रश्न साथ–साथ देखा जा रहा है। लेकिन दलित और स्त्री विमर्श को गाँधी ने उसी समय अलग–अलग स्तरों पर उठाया था। आज स्त्री उतनी जुझारू नहीं जितनी उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ में दक्षिण अफ्रीका में नज़र आती है। तमिल बहिनें और गुजराती बहनें सत्याग्रह के चलते उन जेलों में रही थीं जिनमें स्त्री–पुरुष कैदियों को मिलने वाला भोजन जानवरों के भोजन से भी गया गुज़रा होता था। कस्तूरबा को कैदी की हैसियत से सत्याग्रह करना पड़ा था। फूहड़ और गंदी स्त्रियों के यौन संबन्धी संकेतों से उन्हें आहत होना पड़ा था। तमिल बहनों ने न्यू कैसल की खानों के मज़दूरों को हड़ताल करने के लिए उकसाया। महिलाओं को इसी स्थिति तक पहुँचाना रूढ़िगत मानसिक गुलामी से आज़ादी दिलाना था। यह चकित करने वाली बात है कि स्त्री की आज़ादी की लड़ाई लड़ने वाली महिलायें कितनी हैं जो स्वतन्त्रता को अपना ही नहीं प्रत्येक व्यक्ति का अधिकार मानकर उसे दिलाने को जूझ रहीं हों। आज स्त्री स्वतन्त्रता का मयार पोशाक की आज़ादी या अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर ब्यूटी कम्पीटीशन में मिस वर्ल्ड या मिस यूनिवर्स के खिताब जीतकर कॉस्मिटिक्स के विश्व बाजार में सहायक बनने और फिल्मों में शरीर प्रदर्शन तक सीमित होता जा रहा है। पाटेकर या अरुंधती जैसी महिलायें कम हैं जो आज़ादी को समझती हों और उसे सबको देना चाहती हों। भले ही अरुंधती आज गाँधी को कार्पोरेट का एजेंट बताती है पर स्त्रियों की आज़ादी के प्रणेता गाँधी ही हैं।

जब दलित विमर्श के साथ स्त्री विमर्श को जोड़कर बात करते हैं तो स्त्री स्वतंत्रता के संदर्भ में उस पेशकश को नज़रअन्दाज़ कर देते हैं जो पहले दक्षिण अफ्रीका में और बाद में भारत में भी देखने को मिली। एक बात और महत्वपूर्ण लगती है कस्तूरबा की गाँधी के जीवन में सबसे ज्यादा हिस्सेदारी थी। उन्हें वे विदुषी के रूप में देखना चाहते थे, जो उस ज़माने में एक असामान्य घटना थी। उसमें सफल न होने पर कस्तूरबा और उनके माध्यम से महिला मात्र को सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तन में एक स्वतंत्र ईकाई के रूप में ही स्वीकार नहीं किया, उन्हें अपने पैरों पर भी खड़ा किया। उनके

घूंघट हटवाये, घरों से बाहर निकालकर, जेल की चारदिवारियों से परिचित कराया। उनकी स्वतंत्र सत्ता को स्वीकार ही नहीं किया स्थापित भी किया। यह बात सामान्य रूप से न महिलाओं को जँचेगी और न विमर्श के कर्णधारों को। क्योंकि उस स्थिति से लोग आगे न बढ़ कर पीछे हटे हैं। फैशन और वाक्चातुर्य की बात मैं नहीं करता।

गाँधी के लिए दक्षिण अफ्रीका अपमानों, उपेक्षाओं, प्रयोगों, संघर्षों की कर्म स्थली थी। भारतीय मात्र वहाँ अस्पृश्य की भूमिका में जीने के लिए बाध्य था। गाँधी को थोड़ा–बहुत भी जानने के लिए उनके जीवन के इस अंश को जानना उनके दलित विमर्श को समझने में सहायक हो सकता है। प्यारे लाल ने *द अर्ली फेज़* का चौदहवाँ परिच्छेद इस पंक्ति से शुरू किया है : 'दक्षिण अफ्रीका काले रंग वालों के अत्यधिक अनुपयुक्त था. . . .'' इस संदर्भ में उन्होंने अनेक सामाजिक–राजनीतिक और वैधानिक कारणों का उल्लेख किया है। भारतीयों को ज़मीन–जायदाद बनाने का अधिकर नहीं था। भारतीय 'ब्राह्मणकाल' परंपरा में भी दलितों को इस अधिकार से वंचित रखा गया था। भाई–भतीजों को तो अधिकार पहुँचता था पर बेटी और पत्नी उससे वंचित रहते थे। भारतीय उन्हीं इलाकों में रह सकते थे जो वार्ड, बस्तियाँ और मार्ग उनके रहने और चलने के लिए निर्धारित थे। यह स्थिति भारतीय दलितों से भिन्न नहीं थी। उन्हें भी भारतीय परिवेश में इससे बदतर स्थितियों में रहना पड़ता था। वे मत भी नहीं दे सकते थे। मताधिकार से तो वंचित वे सभी भारतीय थे जो वर्ग विशेष में नहीं आते थे। शायद दशमलव एक प्रतिशत लोग ही मालगुज़ारी या आयकर देते हों। भारतीय फुटपाथ पर नहीं चल सकते थे। फुटपाथ गोरों के लिए थे। फुटपाथ पर चलने के लिए प्रिटोरिया में क्रूगर के महल के सामने गाँधी को पीटा भी गया। भारत में दलित भी उन सड़कों पर नहीं चल सकते थे जिन पर सवर्ण चलते थे। हालाँकि 1887 में एक अंग्रेज़ी उपन्यासकार एन्थनी ट्रेलोप ने दक्षिण अफ्रीका का विशद दौरा करने के बाद लिखा था : ''दक्षिण अफ्रीका गोरों का नहीं कालों का है। यह ऐसा ही है, ऐसा ही रहा है, और ऐसा ही रहेगा।'' (अर्लीफ़ेज़ पृ. 308) भारतीय दलितों की संख्या भी कम नहीं। यह देश के मुट्ठी भर लोगों का ही नहीं

है जो अपना विधान लागू करके बाकी सबको जो गरीब हैं, दलित हैं, और उपेक्षित है अमुक्त रखना चाहते हैं। दरअसल शासक की एक ही जाति होती है उसमें आने के बाद हर कोई अपना वर्ग बदल कर शासक हो जाता है। चाहे राजनीति हो या धर्म या कोई और क्षेत्र। गाँधी इस बात को समझते थे और उन्होंने अपने अनुयायियों की तरह उस वर्ग से कभी जुड़ना गवारा नहीं किया जो जुड़े उनकी दृष्टि काफी हद तक सीमित रही। वे अपनी नाक से आगे की बात न देख सके न सोच सके। गाँधी का अनुभव अपने समकालीनों से ज़्यादा विस्तृत था।

इस अस्पृश्यता या अलगाव का एहसास गाँधी को दक्षिण अफ्रीका के लिए भारत छोड़ने के समय से ही होने लगा था। उन्हें भारत में ही बता दिया गया था कि अगर आप डेक पर चलना चाहें तो चल सकते हैं। फ़र्स्ट क्लास में जगह नहीं। उस समय उनके मन में बैरिस्टर होने का एहसास था। बाद में अपने को 'डी–क्लास' कर लेने पर यह भाव पूरी तरह से समाप्त हो गया था। गाँधी वहाँ एक स्वतंत्र बैरिस्टर के रूप में नहीं गये थे, एक दूसरे अंग्रेज़ बैरिस्टर की सहायता के लिए गये थे। बेरोज़गार आदमी क्या न करता? चूँकि बार एटला थे (और शायद भारतीय भी) इसलिए दादा अब्दुला अपने मित्रों के साथ उनका ख़ैरमकदम करने आये थे। गाँधी ने उनको दबी जुबान में यह कहते सुन लिया था ''कहीं यह व्यक्ति सफेद हाथी साबित न हो।'' दादा अब्दुल्ला के लिए भी एक साहबनुमा आदमी को देखकर इस तरह की चिंता व्यक्त करना अस्वाभाविक नहीं था। लेकिन योग्यता होते हुए भी कमतर काम पर बाहर से जाने वाले व्यक्ति को अपने हमवतन से ऐसा सुनकर कैसा लगेगा? यह संयोग है कि वहाँ तत्कालीन परिस्थितियों में ऐसी सब घटनायें एक के बाद एक घट रहीं थीं। अगले दिन जब दादा अब्दुल्ला गाँधी को डरबन का कोर्टरूम दिखाने ले गये थे तो मजिस्ट्रेट के द्वारा अपमान की तीखी लपक भी सहनी पड़ी। उन्हें पहली बार यह एहसास हुआ, यहाँ दो राष्ट्र हैं। एक भारतीय अरब राष्ट्र, दूसरा एक सामान्य भारत राष्ट्र। शायद यही बिन्दु था जहाँ से उन्होंने इन दोनों के समन्वय के बारे में सोचना शुरू किया। दक्षिण अफ्रीका की धरती पर धर्म,

रंग और राष्ट्रीयता से संबन्धित भेदभाव को इतनी गहराई से जानने का यह पहला अवसर था। अस्पृश्यता का घृणित रूप वे अपने देश में देख चुके थे। अगर गाँधी ने अस्पृश्यता को इतने नज़दीक से न देखा होता तो हो सकता था गाँधी को इस तरह की घटनायें अन्य भारतीयों की तरह ज़रा भी आन्दोलित न करतीं।

दादा अब्दुल्ला द्वारा प्रिटोरिया की यात्रा के लिए फर्स्ट क्लास का टिकट खरीदवाना भी उतना निर्दोष नहीं लगता जितना गाँधी विमर्श के विद्वान उसे मानते हैं। गाँधी ने भी इस बारे में किसी प्रकार के असंतोष का उल्लेख नहीं किया। यह सही है कि बैरिस्टर होने का गुमान कहीं न कहीं उन्हें फर्स्ट क्लास से यात्रा की मानसिकता से भी जोड़ता है। दादा अब्दुल्ला जानते थे कि फर्स्ट क्लास में अंग्रेज़ ही सफ़र कर सकते हैं। फिर भी फर्स्ट क्लास का टिकट खरीदवाना और अंग्रेज़ों वाली बात उन्हें न बताना या तो इस बात का द्योतक है कि वे इतने भावविव्हल थे कि सब कुछ जानते हुए भी वे उन्हें फर्स्ट क्लास में भेजने के लिए बज़िद थे। या वे उस फ़्रॉक सूट पहनने वाले फैशनेबिल बैरिस्टर को ज़मीन पर लाना चाहते थे। यानी सफेद हाथी की सफेदी को कम करना चाहते थे या फिर वे चाहते थे कि फ़र्स्ट क्लास में होने वाले भारतीयों के अपमान की लौ से डरकर वह सफेद हाथी भाग खडा हो। हुआ उसका उल्टा। पीटर मैरिट्ज़बर्ग में फर्स्ट क्लास से फेंके जाने के कारण जातीयता और नस्लवादी अस्पृश्यता के विरुद्ध नज़रिया बनने में ज़्यादा मदद मिली; जिसने उनका जीवन बदल दिया। मोहनदास के सामने विकल्प था कि वे लौट जायें। लौट जाते तो उनकी संवेदनशीलता और सामान्य व्यक्ति की संवेदनशीलता में विशेष अन्तर न रह जाता। अपमान की आग में धँसकर उस अनुभव को सीधे साक्षात्कार करने के निर्णय ने उनकी दिशा मोड़ी और आगे का रास्ता बनाया।

बात यहीं समाप्त नहीं होती। मोहनदास को कुलीपन का अनुभव हर कदम पर होता है। होता हर भारतीय को था चाहे वे 'पैसेन्जर्स' के रूप में अपना पैसा खर्च करके दक्षिण अफ्रीका व्यवसाय करने गये हों या गिरमिट पर एजेन्ट के पैसे पर कुलीगिरी करने गये हों। चूँकि गाँधी ने अनुभव किया तो वह उनके लिए चुनौती बन गया। यही

बात डॉ. अम्बेदकर के संदर्भ में भी है। देश का हर दलित हज़ारों वर्षों से अपमान और उपेक्षा का जीवन बिता रहा था परन्तु डॉ. अम्बेदकर ने उसे अनुभव किया तो उसके खिलाफ सशक्त आवाज़ भी उठायी। जिस अपमान को गाँधी विदेशी धरती पर स्वयं अनुभव कर रहे थे और अपने देशवासियों को दूसरों का करते देखा था वही डॉ. अम्बेदकर भारत में सवर्ण कहलाने वाले हिन्दुओं द्वारा एक बहुत बड़े समाज को उत्पीड़ित किये जाते देखते थे। बल्कि स्वयं भोग रहे थे। डॉ. अम्बेदकर ने जिस छुआछूत जैसे संत्रास का भीषण रूप अपने देश में देखा था वह भी अपने ही लोगों द्वारा, गाँधी ने वही उत्पीड़न विदेश की धरती पर विदेशियों और अपने देशवासियों द्वारा देशवासियों के साथ ही होते देखा। ट्रांसवाल में कुछ कानून ऐसे थे जो काले लोगों के लिए थे। उन्हीं में भारतीय भी आते थे। भले ही भारतीय अन्य कारणों से 'ब्राउन ब्रेड' की श्रेणी में आते रहे हों। उन कानूनों के अनुसार भारतीयों का फुटपाथ पर चलना वर्जित था। रात को नौ बजे के बाद बिना परवाने के सड़कों पर चलने पर रोक थी। कुछ लोग दूसरी श्रेणी में रखकर इन कानूनों से अपने को बचा ले जाते थे, जैसे अरब। हालाँकि यह पुलिस की मर्ज़ी पर था, वे उन्हें रात को नौ बजे अरब होने के कारण सड़क पर निकलने दें या न निकलने दें।

गाँधी ने अपनी *आत्मकथा* में लिखा है : ''फुटपाथ पर चलने का प्रश्न ज़रा मेरे लिए गंभीर परिणाम वाला साबित हुआ। मैं हमेशा प्रेसिडेन्ट स्ट्रीट से होकर खुले मैदान में घूमने जाता था . . . . इस मुहल्ले में प्रेसिडेन्ट क्रूगर का घर था. . . . प्रेसिडेन्ट की सादगी प्रख्यात थी। यह घर किसी राज्याधिकारी का है, इसका अन्दाज़ सिर्फ संतरी को देखकर हो सकता था, जो उसके सामने रहता था।. . . . संतरी के नज़दीक से रोज़ निकला करता था परन्तु संतरी मुझे रोक–टोक नहीं करता था. . . . एक दिन संतरी ने बिना चेताये. . .बिना यह कहे कि फुटपाथ से उतर जाओ, मुझे धक्का दिया, लात जमा दी और फुटपाथ से उतार दिया।'' (पृ. 152)

मि. कोट्स ने जो उनका मित्र था और सरकारी वकील मि. क्राउज़े से परिचय पत्र दिलाकर लाया था, जिसके सहारे गाँधी कभी भी

आ–जा सकते थे, उन्हें पिटते देख लिया था और चिल्लाकर कहा था ''मैंने देख लिया है, यदि तुम मुकदमा चलाना चाहो तो मैं गवाही दूँगा।'' (पृ. वही)

गाँधी ने निरंतर होते जा रहे अपमान की गहमा–गहमी के दौरान अपनी रणनीति बना ली थी। वे अपने या अपने लोगों के अपमान की लड़ाई घृणा और आक्रमकता के द्वारा नहीं लड़ना चाहते थे। उन्होंने यही कहा ''. . . . . संतरी बेचारा क्या पहचानता? उसके नज़दीक तो सब काले बराबर . . . . . मैंने तो यही नियम बना लिया है, कि मेरी जान ख़ास पर जो भी कुछ बीते, उसके लिए अदालत न जाऊँ।'' (पृ. वही)

शायद उनके सामने सबसे बड़ा सवाल था भारतीयों की दशा में कैसे परिवर्तन आये, उसे लाने का ढंग क्या हो?

बालसुन्दरम् नाम के उत्पीड़ित गिरमिटिया से संबंधित घटना ने मोहनदास से सभी गिरमिटियों को भावनात्मक स्तर पर जोड़ने में मदद की थी। 22 मई 1894 को नेटाल कांग्रेस का जन्म हुआ था। उसमें भारत में जन्मे भारतीय व दूसरे कारकुन शरीक थे। परन्तु गिरमिटियों का वहाँ नामोनिशान नहीं था। वे तभी कांग्रेस से जुड़ सकते थे जब कांग्रेस में उनकी तकलीफों से जुड़ने की इच्छा हो। उसके लिए कांग्रेस को उनकी सहायता के लिए आगे आना पड़ता। गाँधी चाहते थे कि कांग्रेस गिरमिटिया लोगों से जुड़े। एक दिन बालसुन्दरम् नाम का एक गिरमिटिया खून से सना फेंटा हाथों में लिए मोहनदास के पास पहुँचा। उसके कपड़े फटे थे, सामने के दो दाँत टूट गये थे, खून बह रहा था। डर से थर–थर काँप रहा था। वह वहाँ एक प्रतिष्ठित और धनवान गोरे खेतिहर के यहाँ काम करता था। मालिक ने उसे बेदर्दी से पीटा था। गाँधी ने उसकी एक गोरे डॉक्टर से जाँच कराकर सर्टिफ़िकेट लिया और उसको लेकर अदालत में पेश हो गये। इकबालिया बयान दिलवाकर गोरे मालिक को तलब कराया। शाम को मोहनदास ने गोरे मालिक से जाकर कहा : ''मैं आपको सजा कराना नहीं चाहता। आप जानते हैं उसे सख़्त चोट पहुँची है। अगर आप उसका गिरमिट दूसरे के

नाम चढ़ाने को तैयार हों तो मुझे संतोष हो जायेगा।'' (आत्मकथा, पृ. 280)

सवाल यह उठता है कि मोहनदास ने कानून का उल्लंघन करने वाले गोरे मालिक से तसफिया करके उसे सज़ा से क्यों बचाया? उसी के साथ यह भी सवाल जुड़ा है कि जब क्रूगर के महल के सामने स्वयं गाँधी को गार्ड द्वारा पीटा जा रहा था तो मि. कोट्स के कहने पर भी वे स्वयं कोर्ट क्यों नहीं गये? लेकिन बालसुन्दरम् को कोर्ट ले गये। स्थितियों को समझने और उन पर कार्यवाही करने के पीछे मोहनदास का दृष्टिकोण क्या था? मोहनदास शायद चीज़ों को दो दृष्टिकोणों से देखते थे। एक थी व्यवस्था। जहाँ व्यवस्था दोषी हो और एक व्यक्ति को जो उस व्यवस्था को क्रियान्वित करने वाला छोटा–सा पुर्जा मात्र हो, गाँधी उसे दोषी ठहराकर व्यवस्था को निर्दोष करने के पक्ष में नहीं थे। उनका प्रयत्न था व्यवस्था को बदलना। उसको बदलने के उनके अपने उपकरण थे। उन उपकरणों को वे अपनी तरह इस्तेमाल करते थे। दूसरा था व्यक्ति। व्यक्ति यदि व्यक्ति के हित के खिलाफ काम करता है या अत्याचार करता है तो उसे उसकी सजा मिलनी चाहिये। गाँधी के मामले में व्यवस्था का प्रश्न था और पीटने वाला उस व्यवस्था का एक बहुत नगण्य हिस्सा था। बालसुन्दरम् को एक अंग्रेज़ ने इसलिए प्रताड़ित किया था कि उसका कोई मददगार नहीं था। न समाज और न व्यक्ति। वह अपने को कानून से ऊपर समझता था। गाँधी का उद्देश्य था उस अत्याचार से बालसुन्दरम् को बचाना और दूसरे गिरमिटियों तक सन्देश पहुँचाना कि कानून से ऊपर कोई नहीं, ज़्यादती के खिलाफ लड़ना हर व्यक्ति का धर्म है। यह कोर्ट जाकर ही संभव था। गोरे मालिक को सज़ा से बचाने के पीछे एक और भी तर्क था कि सारे गिरमिटिया किसी न किसी गोरे के यहाँ काम करते थे अगर उनमें से किसी भी वजह से एक गोरा भी सजा पा जाता तो सारे गोरे मालिक एक होकर सम्पूर्ण गिरमिटिया वर्ग को प्रताड़ित कर सकते थे। इसके अलावा गिरमिटिया और मामूली नौकर में फर्क था। यदि मामूली नौकर नौकरी छोड़ दे तो मालिक केवल दीवानी में जा सकता था।

गिरमिटिया अगर नौकरी छोड़ देता था वह फ़ौजदारी का मामला बन जाता था। उसे सज़ा भोगनी पड़ती थी। सर विलियम हंटर ने इस स्थिति को 'गुलामी' जैसा बताया था।

एक गोरा साईस भी एक सूटेड–बूटेड और अपने को बैरिस्टर बताने वाले आदमी को कोचबक्स के पायदान पर बैठने के लिए बाध्य कर सकता था। अगर वह न बैठे तो उसकी लात–घूँसे से मरम्मत कर सकता था। गाँधी के साथ प्रिटोरिया की यात्रा के समय स्टेट कोच में सफर करते हुए यही हुआ था। यही स्थिति भारतीय जातियों और वर्गों के बीच दलित वर्ग की थी। ब्राह्मण का निखट्टू, अनपढ़ तथा कम उम्र का बालक अपने से कई गुना बड़े और योग्य दलित या अपने से नीची जात वाले को अपमानित करने का अधिकार रखता था। उसके इस व्यवहार को शास्त्रसम्मत माना जाता था। गाँधी को शायद पहली बार यह भी अनुभव हुआ कि निर्विरोध प्रताड़ित होना भी मन परिवर्तित करने में सहायक हो सकता है। कोच के अन्दर बैठे गोरे यात्रियों ने साईस को उन्हें मारने से रोका था और मोहनदास को कोच के अन्दर बैठने का अधिकार दिलवाया था। बाद में भी जब उस कोचवान के व्यवहार के खिलाफ कम्पनी को गाँधी ने लिखकर शिकायत की तो कम्पनी ने स्टैन्डर्टन से जोन्हासबर्ग की यात्रा के दौरान उस कोचवान को हटा दिया था और लिखकर आश्वासन दिया था कि वे आगे की यात्रा कोच के अन्दर बैठे करेंगे। गाँधी ने अपने अपमान को छिपाया नहीं बल्कि उसे अपने अहिंसक लड़ाई के अस्त्र के रूप में इस्तेमाल किया। यह स्थिति सामान्यतः स्वीकार नहीं की जाती। मोहनदास हर अन्याय के विरुद्ध थे। चाहे वह बा का उका के प्रति तिरस्कार हो, या कोचवान के द्वारा प्रताड़ित किया जाना हो। मैरिट्ज़बर्ग के स्टेशन पर डिब्बे से बाहर फेंक दिये जाने के बावजूद गाँधी ने जोन्हासबर्ग से प्रिटोरिया जाने के लिए स्टेशन मास्टर को पत्र लिखकर फर्स्ट क्लास का टिकट माँगा। हालाँकि उनके मेज़बान कमरुद्दीन ने उन्हें समझाने की कोशिश की कि फर्स्ट क्लास गोरों के लिए है। टिकट उन्हें मिल भी गया। लेकिन गार्ड ने उनसे फर्स्ट क्लास के डिब्बे से उतर जाने के लिए कहा। वे बैठे रहे। तब एक अंग्रेज़ ने गार्ड से कहा, ''तुम इनको

क्यों सताते हो? तुम देखते नहीं इनके पास पहले दर्जे का टिकट है। मुझे इनके बैठने से ज़रा भी कष्ट नहीं।'' (*आत्मकथा, पृ. 138*)

गार्ड बड़बड़ाता चला गया, ''अगर तुझे कुली के पास बैठना हो तो बैठ . . . . मेरा क्या बिगड़ता है।'' (पृ. वही) हो सकता था अगर वह गोरा हस्तक्षेप न करता तो पीटर मैरिट्ज़बर्ग वाली स्थिति की पुनरावृत्ति हो गई होती।

मोहनदास का उपेक्षा, अपमान, प्रताड़ना और दलन के प्रति एक नितांत क्रांतिकारी रुख था। लेकिन उनकी कार्यविधि सामान्य व्यक्ति से अलग थी। वे उसे चुनौती की तरह लेते थे परन्तु उसका सामना शांत रहकर पूरी तैयारी के साथ करते थे। उसे आप शांत विरोध का नाम भी दे सकते हैं। वे आक्रामक थे। परन्तु उनका आक्रामक होना नितांत अहिंसक और आत्मकेन्द्रित था यानी जितना संभव हो उस उत्पीड़न को स्वयं सहन करके दूसरों के मन में जितना अनुगुंजित कर सकें, करें। यह प्रक्रिया कठिन भी है और सामान्य रूप से समझ में भी आने वाली नहीं है। उन्होंने शरीर को, उत्पीड़न और आक्रमणों के लिए प्रयोग स्वरूप दे दिया था। आत्मसंघर्ष को अपने पास रखा था। उनका शरीर यह देखने के लिए बैरोमीटर था कि बाहर कितनी ज्यादतियाँ हो रही हैं। वैसे तो अपनी इस आत्मसंत्रास की लड़ाई में वे नितांत अकेले थे, भले ही दक्षिण अफ्रीका और भारत (बाद में) का हर आदमी उनके साथ खड़ा नज़र आता हो। आज़ादी की लड़ाई के दौरान भी उन्हें गलत समझा गया। अस्पृश्यता के संदर्भ में तो शायद वे खलनायक ही बन गये। उनके समर्थकों ने आरोप लगाया कि वे आज़ादी की लड़ाई से विमुख होकर सामाजिक (हरिजन आन्दोलन) कार्य में ज़्यादा ध्यान दे रहे हैं। जबकि हरिजन आन्दोलन उनके लिए समाज के एक महत्वपूर्ण वर्ग की आज़ादी से जुड़ा था। दूसरा वर्ग उन्हें हिंदू कहता और मानता था। वे यह भी जानते थे अकेले आदमी की लड़ाई हथियारों, डन्डों और गाली–गलौच से आगे नहीं बढ़ती। संभव भी नहीं था। तब धोखे से हत्यायें भी इतनी प्रचलित नहीं थीं जितनी आज हैं, नहीं तो जनरल स्मट्स क्या उन्हें छोड़ते? वे तो उसकी गर्दन का दर्द बन गये थे। गाँधी की लड़ाई शत्रुता की लड़ाई न होकर नफरत के खिलाफ चलाया जाने वाला

सोचा–समझा अभियान था। उस युद्ध को भौतिक स्तर पर लड़कर नफरत और दमन को प्रोत्साहन देना होता। क्योंकि हालात ही ऐसे थे। जैसी नफरत और दमन समाज में व्याप्त था गाँधी को उसको खत्म करना था, जो उसके शिकार थे, उनमें जान फूँकनी थी जिससे वे उसका विरोध करें। सबसे पहले यह काम दक्षिण अफ्रीका में किया, बाद में अपने देश में। डॉ. अम्बेदकर ने भी आत्मसम्मान की लड़ाई लड़ने के लिए डरे और कुचले दलितवर्ग में जान फूँकी। गाँधी की नीति जैसे भी हो घृणा को कम करने की थी। उसका एक उदाहरण डरबन में घटी एक घटना है। गाँधी की पैरवी के कारण कुछ भारतीय ईसाई बने युवकों को कोर्ट ने रात को नौ बजे के बाद सड़क पर निकलने के जुर्म से तथ्यों के आधार पर बरी कर दिया था और उन सिपाहियों पर जुर्माना किया जिन्होंने उन्हें गिरफ्तार किया था। पुलिस सुपरिन्टेन्डेन्ट मि. अलेक्ज़ेंडर के बयान का तार्किक ढंग से विरोध किया। बाद में वे स्वयं अलेक्ज़ेंडर के पास गये और कहा कि आपने अपनी बात कही उससे गरीब हिन्दुस्तानी डर गये थे। इसलिए मुझे भी अपनी बात कहने का अधिकार था जिससे मेरे अपने लोग खौफज़दा न हों। आपसे मैं सिर्फ यह कहने आया हूँ कि भारतीय बहुत सीधे, गरीब और ईमानदार हैं उन्हें आपकी सहायता की जरूरत है। उनका उत्पीड़न तो होता ही रहता है। मैं नहीं चाहता हम लोगों के शाब्दिक मतभेद का असर उन गरीबों पर पड़े। अलेक्ज़ेंडर बाद में गाँधी का मित्र हो गया और जब गाँधी पर गोरों के हुज्जूम ने हमला किया था तो उसकी पत्नी सायरा अलेक्ज़ेंडर ने अपने छाते से उनका बचाव किया था और अलेक्जेंडर ने नाच–गाकर उन्हें रुस्तम जी के घर से, जहाँ वे ले जाये गये थे, निकालकर अपने संरक्षण में थाने में दो दिन सुरक्षित रखा था।

मोहनदास ने जीवन की वास्तविकताओं, अन्तर्विरोधों और अनाचारो को अपने दैनन्दिन अनुभवों के माध्यम से समझा था। समझने के बाद ही उनके निदान के लिए ऐसे उपकरण बनाये थे जिनकी सफलता भले ही देरकुन हो परन्तु प्रभावी हो। उनका उपयोग उन्होंने राजनीतिक और आर्थिक स्वतंत्रता के पक्ष में, साम्प्रदायिकता के विरुद्ध, जातीय सद्भाव, धार्मिक समन्वय, दलित दमन के विरुद्ध

तथा मानवीय संबन्धों को पुख़्ता करने के लिए किया। उन प्रयोगों को यदि सफलता की तराजू पर तोला जाये तो हो सकता है कि अपेक्षा के अनुरूप आश्वस्ति न हो। क्योंकि सामान्यतः हम मनुष्यों का प्रयत्न सीमित और अपेक्षाओं का पैमाना बहुत बड़ा होता है। दरअसल गाँधी उन्मूलक नहीं थे। उन्मूलन का प्रभाव तत्काल नज़र आता है और उसके प्रति लोग आश्वस्त भी अनुभव करते हैं। उन्मूलन हो या न हो उसका नारा ही पर्याप्त होता है। गाँधी के साथ भी यही हुआ, भारत से अंग्रेज़ी राज्य के उन्मूलन की बात लोगों की समझ में जल्दी आई। सामाजिक परिवर्तन की बात लोगों तक पहुँचाने में समय भी लगा और उतना प्रभावी भी नहीं रहा। क्योंकि समाज के परिवर्तन की प्रक्रिया लम्बी भी होती है और उबाऊ भी। डॉ. अम्बेदकर चाहते थे कि जब तक सामाजिक समता यानी दलितों को समानाधिकार न मिले तब तक अंग्रेज़ देश में बने रहें। यह बात एक तरफ सामाजिक रूढ़ियों के उन्मूलन की थी दूसरी तरफ अंग्रेज़ों के संदर्भ में यथास्थिति बनाये रखने की थी। पहली बात भले ही लोगों ने स्वीकारी हो परन्तु अंग्रेज़ों के राज को तब तक न हटाने की बात जब तक सामाजिक समानता न हो लोगों की समझ में कम आई। इसका कारण एक यह भी है कि इस संदर्भ में अंग्रेज़ों का रिकार्ड बहुत आश्वस्त करने वाला नहीं था। हो सकता है डॉ. अम्बेदकर ने सोचा हो कि जातीय हिन्दुओं पर दबाव बने और वे समानता की बात मान लें। गाँधी एक तरह से यथास्थितिवादी थे तो अम्बेदकर अंग्रेज़ी राज्य को हटाने के संदर्भ में दूसरी तरह से. . . .। शायद अम्बेदकर भी अपनी दृष्टि से ठीक थे। उन्हें लगता था कि अंग्रेज़ चूँकि तीसरा पक्ष है जिसे भारतीय रूढ़ियों और मान्यताओं से कुछ नहीं लेना–देना इसलिए वह अस्पृश्यता तथा 'ब्राह्मणीकल' वर्चस्व को दूर करने में शायद ज़्यादा सहायक हो सके। स्वराज्य मिल जाने पर जातीय हिंदू का वर्चस्व बना रहेगा। हालाँकि अंग्रेज़ों के व्यवहार से ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता कि उन्होंने अस्पृश्यता के उन्मूलन की दिशा में कोई प्रभावी कदम उठाया हो। कानून की दृष्टि से भी अंग्रेज़ों के लिए अलग कानून थे, बाकी देशवासियों के लिए अलग। अलबत्ता भारतीयों पर लागू कानून एक सीमा तक बिना

भेदभाव के सब पर समान रूप से लागू होते थे। अपवाद उन में भी थे। गाँधी का निशाना वे जातीय हिंदू थे जिन्होंने यह गंदगी की थी। वही समेटें। यही बिन्दु गाँधी और अम्बेदकर के बीच मतभेद उत्पन्न करने वाला साबित हुआ।

गाँधी यह नहीं मानते थे जिसे आप नहीं चाहते थे या समाज या वर्ग के हित में नहीं है उसे समूल नष्ट कर दें। खासतौर से जबकि रूढ़ियों, परंपराओं, धार्मिक अन्धविश्वासों को हटाने की प्रक्रिया कठिन होती है। भले ही इस बात को नापसन्द किया गया हो परन्तु उनका ख्याल था खराब पुर्ज़ा सुधारा जा सके तो सुधारा जाए। इन्सानी समाज में पुर्ज़े बदलने के अधिक विकल्प उपलब्ध नहीं होते। ताबड़तोड़ हत्याओं के बावजूद मानसिक परिवर्तन की प्रक्रिया और उसके महत्व को किसी भी प्रकार के शासन द्वारा नकारा नहीं जा सका। चाहे वह साम्यवादी शासन हो या अधिनायकवादी। अन्ततः सबको अन्तर्मन के परिवर्तन पर ही निर्भर करना पड़ा। गाँधी बुराई को निकालने के पक्षधर थे, बुरे को नहीं। भगत सिंह भी हत्याओं या नफरत द्वारा परिवर्तन नहीं चाहते थे। रसायनिक विस्फोट से पहाड़ तो उड़ाये जा सकते हैं परन्तु मनुष्य नहीं बदले जाते। यह प्रक्रिया हृदय परिवर्तन से नहीं जुड़ती। उनके इसी सोच को यथास्थितिवाद मानकर उनकी भर्त्सना भी की गई। डॉ. अम्बेदकर ने भी बौद्ध धर्म अपनाकर एक तरह से धर्म परिवर्तन की प्रवृत्ति का ही उपयोग किया। गाँधी की तरह वे भी अहिंसा को महत्व देते थे। दरअसल दोनों ही मनीषी इस बात से आश्वस्त थे कि समाज इतनी छोटी चीज़ नहीं कि आपने कहा या चाहा कि समाज बदल जाय और वह बदल गया। मनुष्य का मनोविज्ञान ऐसा दुष्कर क्षेत्र है कि लिटमस की तरह किसी रसायनिक घोल में डालकर उसका रंग नहीं बदला जा सकता। कोई नहीं बदल पाया। उसके लिए लम्बी और क्रांतिकारी प्रक्रिया की जरूरत होती है। क्रान्ति का स्वरूप अहिंसक हो या हिंसक हो दोनों ही क्रान्तियाँ हैं। यह बात अलग है हिंसा ज्यादा क्रान्ति का बोध कराती है पर प्रभावी अहिंसक क्रान्ति ही होती है। उसमें मन बदलने की गुंजाइश सतत् बनी रहती है।

इन सब स्थितियों को देखते हुए गाँधी ने मानवीय स्तर पर अस्पृश्यता के संदर्भ में भारतीय जन जीवन का सबसे महत्वपूर्ण और नाजुक प्रयोग किया था। उनकी अपनी व्यक्तिगत सीमाएँ भी थीं। वे स्वयं जातीय हिंदू वर्ग से संबन्धित थे। उन्हें वह लाभ नहीं मिल सकता था जो उसी वर्ग से आने वाले किसी भी परिवर्तनोन्मुखी मनीषी को मिला या मिल सकता था, जिसके विकास के बारे में गाँधी जी लड़ाई लड़ रहे थे। उन्हें उसी वर्ग से लोहा लेना था जिस वर्ग से उनका रिश्ता था। हालाँकि वे स्वयं या उनका जातीयवर्ग उस वर्ग की तीसरी श्रेणी में आता था। श्रेष्ठता की दृष्टि से भी उनकी जातीय या वर्गीय स्थिति बहुत नीचे थी। शायद मूल रूप से नास्तिक होते हुए भी, मंदिर के कर्मकांड से अलग रहकर भी, पूजा–पाठ, शिखा, जनेऊ आदि को अस्वीकार करते हुए भी, उन्होंने अपने आप को उस समय सनातनी कहना शुरू किया था जब वयक्कम सत्याग्रह के दौरान ब्राह्मण वर्ग ने उनके ऊपर ईसाई धर्म से प्रभावित होने पर हिंदू धर्म ग्रन्थों को गलत समझकर दलितों का पक्ष लेने का आरोप लगाया था। शायद यह भी उनका एक प्रयोग था। हो सकता है अपने को सनातनी घोषित करने पर दकियानूसी ब्राह्मण वर्ग उनकी बात सुने। आप चाल भी कह सकते हैं। गाँधी ने इस संदर्भ में कई तरह से अपने को बदला। नास्तिक से सनातनी हिंदू, हिंदू में भी वर्णाश्रम का समर्थक, जातियों को वैज्ञानिक मानना, फिर जातियों को निरर्थक करार देना, अन्त में वर्णाश्रम से भी अपने को एक हद तक विमुख कर लेना। यह सब कुछ गाँधी के खिलाफ पड़ गया। गाँधी जैसे बदल रहे थे उसी तरह वे जातीय हिंदू वर्ग को बदलते देखना या बदलना चाहते थे। उनका बदलना तीव्रगामी नहीं था। वे जातीय हिंदू का हिस्सा बनकर ही उन्हें बदलने के पक्ष में थे। यही उनकी सोची–समझी रणनीति थी। यह सवाल उठ सकता है और उठा भी है कि वे कुछ भी बदलना नहीं चाहते थे? अगर बदलना नहीं चाहते थे तो गाँधी के पूरे सोच और उनकी परिवर्तन प्रक्रिया पर बात करने का सवाल ही नहीं उठता। उस स्थिति में उनके अस्तित्व को ही नकार देना तर्कसंगत होगा। अगर चाहते थे तो परिवर्तन की

उनकी आन्तरिक और बाह्य प्रक्रिया को समझना जरूरी हो जाता है। मैं जानता हूँ इसके अनेक उत्तर दिये जा सकते हैं पक्ष में भी और विपक्ष में भी।

अन्त में कबीर 'शील' को महत्व देते थे। उनका एक दोहा है –

ज्ञानी ध्यानी संयमी, दाता सूर अनेक
जपिया तपिया बहुत हैं, सीलवन्त कोई एक।

शील से संभवतः उनका अर्थ विवेक से है। विवेक का गुण होता है कि वह समस्याओं, स्थितियों और वास्तविकताओं को रौंधकर आगे बढ़ने की इजाज़त नहीं देता। विवेक तर्क की डगर पर चलकर धीरे–धीरे आगे बढ़ता है। वह किसी पर व्ही (ईश्वरीय आदेश) की तरह नहीं उतरता। भारतीय मनीषा और तप के प्रतीक बुद्ध हों या गाँधी या मार्क्स इन सब ने अपने सत्य को खोजने, सामाजिक विवेक को जाग्रत करने और अनुभव के स्तर पर उसे व्याख्यायित करने में सम्पूर्ण जीवन लगा दिया। बुद्ध का विद्रोह रुढ़िवादी धर्म और जीवन पद्धति के खिलाफ था। उस विद्रोह के उपकरण वही थे जो उस धर्म के थे जिसके खिलाफ उन्होंने विद्रोह किया – तप, नियम, संयम, उपवास आदि। उन्हीं के सहारे उन्होंने एक नया मानवधर्म विकसित किया जो 'बहुजन हिताय' था और है। किसी भी धर्म के अन्धविश्वासों को चुनौती देने वाला धर्म उन्हीं धर्मों में से पैदा होता है जो धर्म आगे जाकर शोषण का कारण बनते हैं। इस बात को बुद्ध भी जानते थे, ईसा भी। गाँधी और मार्क्स ने सामाजिक रूढ़ियों और विषमताओं का विरोध किया। किसी नये धर्म की स्थापना नहीं की। मार्क्स की 'एप्रोच' विश्लेषणात्मक थी और इतिहास आधारित थी। गाँधी की समाजमूलक थी और व्यवहारपरक। इसलिए उनके उपकरण समाज से ही लिए गए थे। कबीर का जहाँ तक संबंध है वे व्यक्ति–विवेक को महत्व देते थे। गाँधी का भी उसमें गहरा विश्वास था। गाँधी ने बावजूद अपने विद्रोही स्वभाव के अपने धर्म को व्यक्तिगत आस्था का प्रश्न बनाये रखकर एक सामाजिक विवेक विकसित किया। और अपने विवेक को सक्रिय रखते हुए, अपने

समकालीन विचारों को निरंतर परखते, स्वीकार और अस्वीकार करते हुए, उन्हें एक सामाजिक सोच में परिवर्तित करते गये। राजनीतिक मान्यताओं के संदर्भ में अपने निर्णयों और सोच को ज़रूर उन्होंने दृढ़ता से अपनाया। वह शायद राजनीति की माँग होती हो। सामाजिक परिवर्तन और उत्थान के प्रश्न पर उन्होंने अपने मस्तिष्क को खुला रखा। ख़ासतौर से हरिजन विमर्श के संदर्भ में। व्यक्तिगत स्तर पर उस क्षेत्र में प्रयोग भी किये। जहाँ उन्होंने अड़ियल रुख़ अपनाया वहाँ वह उनके अन्तर विश्वास से जुड़ा था।

गाँधी कबीर की तरह कवि नहीं थे। इसलिए वे कबीर की तरह यह तो नहीं कह पाये 'कबिरा सोई पीर है जो जाने पर पीर।' लेकिन अपनी भाषा गुजराती के शीर्षस्थ कवि नरसी मेहता से, अपने इस भाव को व्यक्त करने और उसे अपने अन्दर निरंतर जीवन्त रखने के लिए, उन्होंने उनका भजन 'वैष्णव जन तो तेने कहिये जे पीर पराई जाने रे' माँग लिया था। जीवन भर वे उसी को गाते–गवाते रहे। कबीर के 'पीर' और नरसी मेहता के 'वैष्णव जन' लगभग एक ही हैं। पर पीर को समझाने वाला वहाँ 'पीर' हो तो यहाँ 'वैष्णव जन' है। कबीर सत्य को तप मानते थे और गाँधी ने सत्य को ईश्वर का पर्याय माना। निर्वाण पाने के लिए बुद्ध ने भी तप को ही माध्यम बनाया था। ईश्वर की प्राप्ति का माध्यम भी तप को ही माना गया है। 'पर पीर' जानना भी सत्य को जानना है। निर्वाण की स्थिति अन्तिम सत्य तक पहुँचना ही है। उसके रूप और माध्यम अलग–अलग हो सकते हैं।

कबीर के 'विवेक' या 'शील' को हम पाँच सौ वर्ष के अन्तराल के बाद अब समझने की कोशिश कर रहे हैं। अभी भी यह कहना कठिन है कि कितना समझे या कितना नहीं समझे। कबीर के पास मन परिवर्तन के लिए उनकी सिद्धि से निकले वचन थे। गाँधी के पास उनके संघर्ष से उत्पन्न सोच और उसे कार्यान्वित करने की प्रतिबद्ध ता थी। जिसे वे समन्वय के रूप में ही देखते थे। वह सत्य भी उनके सत्य का ही हिस्सा था। कबीर हो या गाँधी, बावजूद अपने को हिंदू और सनातनी घोषित करने में, दोनों ने ही धर्म को अपना हथियार नहीं बनाया। बल्कि जिन धर्मों से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष उनका संबन्ध था वे उनकी आलोचना के ही पात्र अधिक रहे। राम को न कबीर

ने पारंपरिक रूप में स्वीकार किया न गाँधी ने। दोनों के राम तुलसी के राम से अलग एक राम थे। सर्वव्यापी राम। खुदा भी, ईश्वर भी।

जहाँ तक परिवर्तन की बात है गाँधी ने राजनीतिक परिवर्तन को एक शक्ल जरूर दी थी। शायद इसलिए कि उस परिवर्तन की किसी भी धर्म या धर्मावलम्बियों से लड़ाई नहीं थी। वे जातियों, वर्ण, धर्म मान्यताओं से स्वतंत्र राजनीति के पक्षधर थे। हरिजन–विमर्श के संदर्भ में उनकी सीधी टक्कर जातीय हिंदू कट्टरवादियों से थी। अन्ध–धर्मावलम्बियों से जीतना कहीं और कभी भी आसान नहीं रहा। इसलिए गाँधी को उन जातीय हिंदूओं के विरुद्ध देशव्यापी आन्दोलन छेड़ना पड़ा। कबीर ने भी यही किया था। यह आन्दोलन हरिजन का पक्षधर उतना नहीं था जितना जातीय हिंदू की अस्पृश्यता और दलित विरोधी मानसिकता के विरुद्ध था। तुमने भिनकाया है, तो तुम साफ करो। लेकिन कट्टर धर्मावलम्बी बड़ी विचित्र चीज़ है। वे आक्रमण भी करते हैं, मौका पड़ने पर घुटने भी टेक देते हैं, सामाजिक दबाव देखकर दुबक भी जाते हैं। परन्तु उनका विखंडन जारी रहता है। गाँधी उस वर्ग पर दबाव बनाने में किसी हद तक सफल हुए थे। उनकी यात्रा धारा के विपरीत तैरने की थी। शायद वे उस कट्टर ब्राह्मण वर्ग पर दबाव इसीलिए बनाने में कामयाब हो पाये थे क्योंकि उन्होंने एक तरफ उनकी कुछ मान्यताओं से सहमति व्यक्त की थी और उसके आधार पर हरिजन विरोधी रुख को ताल ठोककर चुनौती दी थी। हालाँकि उसका नतीजा उनके विरुद्ध भी गया। जिन्ना ने उन्हें हिंदू कहा। डॉ. अम्बेदकर ने भी उन्हें हिंदू करार दे कर अपने दलित विमर्श से अलग कर दिया। शायद दोनों का साथ रहना या काम करना संभव भी नहीं था। डॉ. राम विलास शर्मा की पुस्तक *गाँधी, अम्बेदकर, लोहिया और भारतीय इतिहास की समस्याएँ,* की भूमिका में लिखा है ''गाँधी जवानी में नास्तिक थे। उनका नास्तिकपन कभी पूरी तरह खत्म नहीं हुआ। वह वेदांत की भूमि से धर्म और दर्शन की समस्यायें हल करते थे। वेदान्ती किसी व्यक्ति ईश्वर में विश्वास नहीं करता।'' (पृ. x)

इस संदर्भ में *गाँधी वाङ्मय* से एक और उद्धरण उल्लेखनीय हैः ''मद्रास में अंत्यजों पर जितना अत्याचार किया जाता है, उतना अन्यत्र शायद ही कहीं किया जाता हो। वहाँ ब्राह्मणों और अब्राह्मणों

में जितना भेदभाव है, उतना दूसरी जगह शायद ही कहीं हो। . . .मंदिर पर धन व्यय करना मद्रास ही जानता है, इससे वहाँ एक ओर जहाँ विद्वानों में नास्तिकता आ गई है और जिसके फलस्वरूप वे निराशावादी हो गये हैं, वहाँ दूसरी ओर आस्तिकों में केवल अंधकार फैला हुआ है।'' (पृ. 386) यह कहने के लिए बहुत साहस चाहिए। डॉ. राम विलास का मानना है कि ऐसा साहस महात्मा गाँधी में ही था।

गाँधी दलित विमर्श के संदर्भ में भले ही विवादास्पद बन गये हों या बना दिये गये हों। लेकिन उनको इस विमर्श से बाहर कर देने के बारे में अन्तिम निर्णय पर पहुँचना उतना आसान नहीं। उनकी सम्पूर्ण वैचारिक सांस्कृतिक, परिवर्तनोन्मुखी प्रवृत्तियों, धार्मिक मान्यताओं तथा चिन्ताओं के गहरे अध्ययन, विचार, पुनर्विचार के बाद ही किसी निर्णय पर पहुँचना उचित होगा। वैसे तो यह जनतांत्रिक अधिकार है कि किसी भी मान्यता, आस्था या कार्यों पर प्रश्नचिन्ह लगाया जा सकता है। क्योंकि मान्यता, आस्था या विचार चट्टान नहीं हैं जिन्हें हटाया न जा सके।

गाँधी धर्म परिवर्तन को लेकर भी मानसिक दबाव में थे। दक्षिण अफ्रीका में डब्ल्यू. ए. बेकर के नेतृत्व में एक सामूहिक प्रयत्न किया गया था कि वे ईसाई धर्म स्वीकार कर लें। लेकिन गाँधी ने उसे स्वीकार नहीं किया। वे मानते थे कि अन्य धर्मों की तरह हिन्दू धर्म में भी बहुत से अन्तर्विरोध और कमियाँ हैं लेकिन धर्म–परिवर्तन उसका कोई हल नहीं। राहुल सांकृत्यायन ने कहा है 'भागो नहीं, बदलो'। ब्राह्मणों ने भी गाँधी पर यह आरोप लगाया था कि उन्हें हिंदू ग्रन्थों की व्याख्या का कोई अधिकार नहीं क्योंकि वे ईसाईयत से प्रभावित थे। गनीमत है उन्होंने यह तर्क नहीं दिया कि वे जाति–बाहर हैं। गाँधी ने अपने उद्देश्य के सामने इस प्रकार के आरोपों को कोई स्वीकृति नहीं दी। वे जानते थे कि धर्म–परिवर्तन के बाद स्वतंत्रता के संदर्भ में और हरिजन विमर्श के प्रश्न पर भारतीय जन को इतना गहरे तक आन्दोलित कर पाना उनके लिए संभव नहीं होगा। गाँधी को दलित विमर्श से बाहर करना ठीक वैसा ही होगा जैसा कबीर को साहित्य से बाहर करके लंबे समय तक साहित्य अपने अधूरेपन को भोगता रहा।

डॉ. अम्बेदकर और अस्पृश्यता

डॉ. बी. आर. अंबेदकर अपने समय के शीर्षस्थ बुद्धिजीवियों में थे। दलित प्रश्न के ऊपर अगर किसी ने गाँधी जैसे व्यक्ति को चुनौती दी तो वे अंबेदकर ही थे। ब्रिटिश सरकार के निकट होने और वाइसराय की एक्ज़ीक्यूटिव काउंसिल के सदस्य होने के बादजूद उन्होंने सरकार को भी नहीं बख्शा। अस्पृश्यता के सवाल पर उन्होंने अपने आक्रोश को छिपाया नहीं। उनका मत था कि ब्रिटिश का न कोई स्थायी मित्र है न शत्रु। अगर कुछ स्थायी है तो उनका स्वार्थ। 1930 में लंदन में आयोजित राउँड टेबिल कांफ्रेंस में उन्होंने कहा थाः

> British who have held so large a sway over us for such a long time, have done some good, we cheerfully acknowledge. But there is certainly no fundamental change in our positions. Indeed, so far as we (the depressed classes) are concerned, the British Government has accepted the social arrangements as it found them, and has preserved them faithfully in the manner of the Chinese tailor, who when given an old coat as a pattern produced wound with pride an exact replica, rent, patches and all.
>
> (Round Table Conference Proceedings 12.11.1930 to 1931, reproduced from *Slavery and Untouchability,* B.R. Ambedkar, p. 44)

उनके पास अथाह विद्धत्ता और तर्कशक्ति थी। वे अपनी बात पूरी ज़ोरदारी के साथ प्रस्तुत करने और दूसरे से असहमत होने की विलक्षण सामर्थ्य रखते थे। अगर वे किसी से असहमत हैं तो उनके पास असहमत होने का आधार भी है। उनके चरित्र की विशेषता

थी कि वे अपने प्रत्यय (कन्विक्शन) पर दृढ़ रहते थे। उसके लिए उनके पास अपने तर्क होते थे। वे गाँधी जी की तरह उसे 'आत्मा की आवाज' का नाम नहीं देते थे। दोनों की शब्दावली में यही अंतर है। एक बुद्धिजीवी अपने सम्प्रत्यय को अपनी तर्क बुद्धि से निर्मित करता है, दूसरा आस्थावादी और सामाजिक कार्यकर्ता (एक्टीविस्ट) है। उसका सम्प्रत्यय उसकी आस्था, विश्वास और तपश्चर्या में आबद्ध है।

डॉ. अंबेदकर और गाँधी दोनों ने अस्पृश्यता के पाठ का अपनी–अपनी तरह विखंडन किया और अपने–अपने ढंग से एक नये पाठ की संरचना की। डॉ. अंबेदकर के तर्क के पीछे सामाजिक संज्ञान और सदियों से चले आ रहे पीड़ागत जातीय अनुभव का आधार है। वह जातीय हिंदू के धर्म–आधारित तर्क आधार के मुकाबले अधिक अनुभवजन्य है और आश्वस्त करता है। वे अपने विचारों को ऐतिहासिक स्थितियों के साथ जोड़कर सम्प्रेषित करते हैं। उनके मुकाबले गाँधी एक ऐसे एक्टिविस्ट या सामाजिक कार्यकर्ता थे जिन्होंने अपने अनुभव का संचयन विभिन्न वर्गों के सामाजिक अंतर्संबंधों के आधार पर संचित किया था। उन्हें सामाजिक व्यवहार के साथ समाविष्ट करके प्रयोग में लाते थे। उन्होंने अपने व्यक्ति और विचार का, अनुभव तथा व्यवहार के साथ समन्वय करने का प्रयत्न किया और उसमें सफल भी हुए। कई बार तर्क, बुद्धि को आंदोलित करता है। व्यवहार गौण हो जाता है। ऐसा भी होता है कि व्यवहार–निष्ठा सर्वोपरि हो जाती है, तर्क पृष्ठभूमि में चला जाता है। लेकिन गाँधी और अंबेदकर की यह विशिष्टता है कि दोनों अपने–अपने क्षेत्र में मज़बूती के साथ खड़े रहते हैं। सबसे बड़ी बात है कि उनमें एक बुनियादी प्रतिबद्धता है। डॉ. अंबेदकर में यह सामर्थ्य है कि वे अपने तर्क को आंदोलन का रूप देते हैं। गाँधी अपने व्यवहार और समर्पण से पूरे देश को आंदोलित कर देते हैं।

डॉ. अंबेदकर की पुस्तक *द अनटचेबिल्स* पढ़ते हुए लगता है कि वे अस्पृश्यता के प्रश्न पर भावनात्मक और अपनी विश्लेषण क्षमता का समावेश करके अपने द्वारा संरचित पाठ का स्वरूप तैयार करते हैं। उक्त पुस्तक की भूमिका में व्यक्त उनके इस मंतव्य से असहमत

नहीं हुआ जा सकता कि अस्पृश्यता मानवता के दमन और उसके बंधुआकरण की क्रूरतम जुगत है। महापाप के अलावा उसे और क्या नाम दिया जा सकता है? जो सभ्यता एक ऐसे समुदाय को जन्म देती है कि जो जरायम को अपनी अधिकारिक जीविका के रूप में स्वीकार करने के लिए बाध्य हो, दूसरा समुदाय उसी सभ्यता के बीच आदिम बर्बरतापूर्ण जीवन जीने को स्वतंत्र हो और तीसरा मानवीय संबंधों की परिधि के बाहर रह रहा हो और उसको छू लेना ही अपवित्रता का सृजन करता हो। डॉ. अंबेदकर इन तीनों समुदायों को सभ्यता की देन मानते हैं। हिंदू संस्कृति इतनी पुरानी है परंतु हिंदू वर्ग ने इन तीन उपेक्षित वर्गों की सामजिक स्थिति के बारे में न तो कभी शर्मिंदगी अनुभव की और न ही किसी तरह के प्रायश्चित की जरूरत समझी। बकौल डॉ. अंबेदकर यह इस दुनिया की जिम्मेदारी है कि सभी पिछड़े वर्गों के साथ अस्पृश्यों की जंज़ीरें तोड़कर उन्हें मुक्ति दिलवाये (*मि. गाँधी एंड द एमेंसीपेशन आफ द अनटचेबिल्स की भूमिका,* थेकर ऐंड कम्पनी, बंबई, 1934) अंबेदकर के दिल में इस समस्या को लेकर एक ऐसी आग थी जो उस परंपरा को जला डालने के लिए प्रतिबद्ध थी जिसने अस्पृश्यता को जन्म दिया और उन लोगों को मनुष्येतर जीवन जीने के लिए बाध्य किया।

अंबेदकर ने अपनी उक्त पुस्तक में कैथोलिक चर्च की दमनात्मक नीतियों के खिलाफ आवाज़ उठाने वाले वाल्टेयर का उदाहरण दिया है। उनका सवाल है कि वैसे तो ब्राह्मण समाज इतना विद्वान है परंतु उसने वाल्टेयर जैसा व्यक्ति क्यों नहीं पैदा किया जो इस अमानवीय परंपरा के खिलाफ आवाज़ उठा सकता? उनके पास इस सवाल का सीधा जवाब भी है कि व्यक्ति हो या समाज उनका व्यक्तिगत या जातीय स्वार्थ उसकी सीमा बनकर उसकी बुद्धि को उसी पर केंद्रित कर देता है। ब्राह्मणीय श्रेष्ठता हिंदू सभ्यता की ही देन है। वह उन्हें तो महामानव मानती है और निम्न वर्गों को उनकी सीमाओं में बाँधकर रखती है। शायद इसी में उन लोगों का हित या स्वार्थ है। वह नहीं चाहते कि उनकी श्रेष्ठता या सत्ता को कोई चुनौती दे। डॉ. अंबेदकर ने एनिहीलेशन आफ कास्ट पुस्तक के पहले पैरों में लिखा है : ''मैंने हिंदुओं की आलोचना की है। मैंने उस महात्मा की सत्ता

को ललकारा है जिसकी वे पूजा करते हैं। वे मुझसे नफ़रत करते हैं। उनके लिए मैं घास (के ढेर) में साँप की मानिंद हूँ।''

उनका यह वक्तव्य एक सीमा तक सही है। अंबेदकर का बहुत विरोध था। लेकिन गाँधी के कारण नहीं। अछूतोद्धार आंदोलन के चलते गाँधी स्वयं जातीय हिंदुओं के लिए घास में छिपे साँप की तरह थे। लेकिन यह बात अलग है कि गाँधी सवर्ण थे। इसमें कोई शक नहीं कि ब्राह्मण अपनी श्रेष्ठता को किसी भी कीमत पर श्रेष्ठता बनाये रखना चाहते थे और हैं। चाहे वह कट्टरवादी हो या पुजारी। विद्वान हों या न हों। डॉ. अंबेदकर यह बात गलत नहीं कहते कि यह स्वाभाविक है कि अपनी सीमाओं में बँधा ब्राह्मण वर्ग अपनी ही सत्ता के खिलाफ खड़ा होकर उसे चुनौती कैसे दे सकता था? यही कारण था शायद ब्राह्मण वर्ग ने किसी वाल्टेयर को जन्म नहीं दिया। लेकिन देश ने गाँधी को जन्म दिया। इसी आधार पर एक दूसरा सवाल पैदा होता है। वाल्टेयर पैदा हुआ या नहीं लेकिन हज़ारों वर्षों से चली आ रही अस्पृश्यता की समस्या का विश्लेषण करने की कोशिश क्यों नहीं की गई? डॉ. अंबेदकर का यह सवाल गलत नहीं कि पुरानपंथी हिंदू को कभी यह लगा ही नहीं कि अस्पृश्यता का बना रहना अनुचित है। अस्पृश्यता उनके लिए सामान्य और स्वभाविक स्थिति थी। उनको भी कभी अस्पृश्यता का दंश महसूस होता तो शायद वे इसकी अस्वभाविकता को महसूस करते। (गाँधी यदि दक्षिण अफ्रीका न गये होते तो उन्हें भी इस स्थिति को उतनी गहराई से अनुभव करने का मौका न मिला होता। हालाँकि डॉ. अंबेदकर अस्पृश्यता से जुड़े उनके विचारों और कार्यक्रम से लगभग पूरी तरह असहमत हैं।) जब कभी ऐसी स्थिति आई भी जहाँ सवर्णों से अवर्ण किसी भी रूप में भारी पड़ते थे वहाँ उन्होंने सुविधानुसार उन अवर्णों को अपने में मिला लिया। *अस्पृश्यता और परंपरा निबंध* में वणिकों के संदर्भ में इसकी चर्चा हुई है।

डॉ. अंबेदकर ने उक्त पुस्तक के पहले परिच्छेद में अस्पृश्यता को परिभाषित किया है। ''अस्पृश्यता अपवित्रता, प्रदूषण और सम्पर्क–विकार से जन्मी विकृत धारणा है।'' ('द अन्टचेबिल्स, डॉ. अंबेदकर, पृ. 1) उन्होंने इसी परिच्छेद में आदिकाल में प्रचलित

अस्थायी अस्पृश्यता के कारणों का उल्लेख किया है – (1) जन्म (2) दीक्षा (3) यौवनारंभ (4) विवाह (5) संयोग (6) मृत्यु। इनमें अधिकतर स्थितियाँ संस्कारों के अंतर्गत आती हैं। लेकिन इनका संबंध अस्पृश्यता से भी है। ये छहों कारण या इनमें से कुछ कारण आज भी हिंदुओं, पारसियों और मुसलमानों में मौजूद हैं। स्त्रियों के संदर्भ में मासिक धर्म की अस्पृश्यता तो लगभग सभी वर्गों में है। हालाँकि आजकल इनमें से अस्पृश्यता के सभी प्रतिबन्ध नगरीय सभ्यता में लगभग समाप्त हैं। लेकिन जहाँ ये अस्पृश्यतायें अभी भी प्रचलित हैं वहाँ कुछ समय के बाद या किसी उपचार के द्वारा समाप्त हो जाती हैं। स्नान का महत्व सभी में है। कुछ बीमारियाँ भी हिंदुओं में अस्पृश्यता के अंतर्गत आती हैं। डॉ. अंबेदकर ने कुछ देशों और जनजातियों का भी इस संदर्भ में उल्लेख किया है। उदाहरण के लिए न्यूज़ीलैंड में किसी का सिर छूने से अस्पृश्यता समाप्त हो जाती है। क्योंकि सिर को पवित्र माना जाता है। फिजी में अपवित्र व्यक्ति के सुअर से अपने हाथ रगड़ लेने से अस्पृश्यता का दोष खत्म हो जाता है।

यदि बात यहीं तक होती कि किन्हीं भौतिक कारणों से समाज का कोई व्यक्ति कुछ समय के लिए अपवित्र या प्रदूषित मान लिया जाता है या था तो भी ठीक था। उससे मुक्ति के उपाय सभी जगह उपलब्ध हैं। लेकिन हिंदू धर्म में तो जन्मजात अस्पृश्य मान लिया जाना अस्पृश्यता की पराकाष्ठा है। एक इतने बड़े जनसमुदाय को स्पृश्यता की मुख्यधारा से बहिष्कृत करके उसे मानवीय अधिकारों से वंचित करना क्या अमानवीय नहीं है? आदिमकाल में अस्पृश्यता अस्थायी थी, जैसे–जैसे मनुष्य का ज्ञान बढ़ा और सामाजिक अधिकारों को ग्रहण करके अपने को श्रेष्ठता प्रदान करने का मनोविकार पैदा हुआ, लगता है वैसे–वैसे उन अधिकारों को बाँटने वाले कुछ कमज़ोर या हारे हुए वर्गों को इस दौड़ से अलग कर दिया गया। उनके माथे पर अस्पृश्यता गोद दी गई। डॉ. अंबेदकर ने ऐसी सब जातियों की राज्यवार सूची दी है। साथ ही उनके साथ सवर्णों द्वारा किये जाने वाले दुर्व्यवहार का विवरण भी उपलब्ध है। यह विवरण चकित ही नहीं करता, भयभीत भी करता है। सच पूछिये

तो शर्म से गर्दन भी झुका देता है। हमारे बुज़ुर्ग इतने अमानवीय थे तो उन्हें सभ्य कहने का अधिकार किसने किसको दिया?

'अस्पृश्यता और साहित्य विमर्श' निबंध में दलित लेखकों की आत्मकथाओं के माध्यम से इस स्थिति का यथासामर्थ्य विवेचन किया गया है। ये आत्मकथायें बीसवीं शताब्दी में ही पिछले लगभग एक या दो दशकों में सामने आयी हैं। यह इस बात का उदाहरण है कि अस्पृश्यता का यह कोढ़ गाँधी और डॉ. अंबेदकर के द्वारा जाग्रति लाकर उसे दूर करने के प्रयत्नों के बावजूद दूर नहीं हो पाया। यदि ब्रिटिश सरकार आरंभ से अस्पृश्यता दूर करने के लिए सती कानून की तरह प्रयत्न करती तो उस में निश्चित रूप से परिवर्तन आता। गाँधी और अंबेदकर का ज़ोर उसे क्रियान्वित करने में शायद ज्यादा सहायक हो सकता। डॉ. अंबेदकर ने ठीक कहा है कि जैसे उन्होंने पाया वैसे ही उसे संजोकर रखा। गाँवों में यह अस्पृश्यता अभी भी भोंड़े रूप में मौजूद है। समाचारपत्रों में इस प्रकार के समाचार रोज़ छपते हैं कि युवक–युवतियों को इसलिए जलाकर या फाँसी लगाकर मार दिया जाता है कि वे विजातीय होने के बावजूद एक–दूसरे से विवाह–संबंध बनाने के लिए कटिबद्ध हो जाते हैं। इस काम में सवर्ण तो सबसे आगे हैं परंतु दलित भी पीछे नहीं रहते। लगता है सवर्णों की कट्टरवादिता ने जहाँ दूसरे धर्मों में घुसपैठ की वहाँ उन लोगों को भी नहीं छोड़ा।

दलितों को समान स्तर पर संवाद या सामाजिक संबंधों की परिधि से बाहर करके उन्हें असंबद्ध मान लेने को अंबेदकर ने स्मृतियों और हिंदू शास्त्रों की भूमिका के रूप में देखा है। उन्होंने *द अनटचेबिल्स* के तीसरे अध्याय में *मनुस्मृति* से विस्तार से उद्धरण दिये हैं। गाँव के बाहर रहना, किस तरह के वस्त्र पहने जा सकते थे, क्या खाना खा सकते थे, किस तरह के ज़ेवर पहनने की अनुमति थी, शादियाँ किससे की जा सकती थीं और कैसे, आदि अनेक प्रतिबंधों का उल्लेख किया गया है। उदाहरण के लिए उन्हें दूसरों के द्वारा दिया गया खाना ही खाने का अधिकार था। चाँदी सोने के ज़ेवर पहनने पर प्रतिबंध था। ये व्यवस्थायें अस्पृश्यों के लिए बाध्यतायें थीं। स्मृतियाँ या धर्मग्रन्थ या उनके नियामक इस तरह के प्रतिबंध लगाने

वाले कौन होते थे? उनको धर्म का जामा पहनाकर उन सब लोगों की धर्म भीरुता और अशिक्षित होने का लाभ उठाकर क्या उन्होंने अपनी श्रेष्ठता को स्थापित नहीं किया? शिक्षा चूँकि इसी वर्ग के हाथ में थी इसलिए वे शिक्षित भी नहीं हो सकते थे।

डॉ. अंबेदकर ने इस तथ्य का भी गहराई से विश्लेषण किया कि वे सब वर्ग जो आज अछूत माने जाते हैं, अछूत घोषित होने से पूर्व गाँव के बाहर रहते थे। ये जनजातियाँ थीं और अकसर वे यायावार होती थीं। उनकी दौलत उनके मवेशी थे। अतः उनके लिए चरागाह और अपने मवेशियों की आवश्यकता मुख्य होती थी। उन आदिम जातियों में हिंदू भी थे। डॉ. अंबेदकर के वर्गीकरण के अनुसार दो वर्ग थे – एक स्थायी (सेटिल्ड) निवासी। उन्होंने बस्तियाँ या गाँव बसाये। दूसरे, मुख्य धारा से अलग थे। जिन्हें उन्होंने 'ब्रोकन' यानी मुख्यधारा से टूटे हुए वर्ग की संज्ञा दी है। वे गाँवों के बाहर घर बनाकर रहते थे। उनके शरीर में संभवतः 'सेटिल्ड' लोगों से अलग दूसरी जातियों का रक्त रहा होगा। डॉ. अंबेदकर का निश्चित मत है कि ये 'ब्रोकन' लोग जो गाँवों के बाहर अन्य कारणों से रहते थे बाद में अस्पृश्यों की श्रेणी में मान लिये गये। शूद्रों को तो सवर्ण ने माना ही है। क्योंकि चतुर्वर्ण में उनका भी एक वर्ण है। अस्पृश्यों का पाँचवा वर्ग है यानी अवर्ण या पंचम। जिसका गाँधी ने भी विरोध किया। डॉ. अंबेदकर मानते हैं कि 'अंत्यज' का अर्थ यह नहीं कि वे सृष्टि के क्रम में अंत में आये बल्कि ये वे लोग हैं जो गाँव के 'अंत' में बसे हुए थे।

इस प्रकार का अध्ययन और विश्लेषण डॉ. अंबेदकर ने पूरी प्रामाणिकता के साथ किया। यदि शास्त्रीय मान्यताओं को अलग कर दें, जो तर्क की कसौटी पर पूरी नहीं उतरतीं, परंतु हिंदुओं के विश्वास का केंद्र हैं, तो उनकी मान्यतायें विश्वसनीय लगती हैं। उन्हें नकारा नहीं जा सकता। यदि इस बात को ध्यान में रखकर सोचा जाये कि दलित अस्पृश्य न होकर उन जन जातियों (मूल जातियाँ कहें तो अधिक सही होगा) से अलग जातियों के थे जो गाँव के अन्दर रहते थे, वे अस्पृश्य न होकर कुछ भौगोलिक कारणों से मुख्यधारा से अलग हो गये थे, जिन्हें डॉ. अंबेदकर 'ब्रोकन मेन'

की संज्ञा देते हैं, तो अस्पृश्यता की समस्या का समाधान हो जाता है। लेकिन ऐसा नहीं हुआ। क्योंकि इस संबंध में हर धर्म अपनी एक व्याख्या रखता है।

अगर इसे स्वीकार कर लिया जाय, न स्वीकार करने का कोई कारण भी नहीं तो यह सवाल उठता है डॉ. अंबेदकर के इस समाजशास्त्रीय विश्लेषण से सवर्ण, खासतौर से ब्राह्मण, कहाँ तक सहमत होंगे? सहमत होने की बात भी उसके अध्ययन और समझने के बाद ही उठेगी। क्या वह वर्ग जिसके हाथ में धार्मिक सत्ता रही है इस विश्लेषण को फूटी आँखों देखना चाहेगा? दरअसल अक्सर होता है कि हम बिना पढ़े या समझे अपने–अपने निष्कर्ष निकाल लेते हैं और उसी के आधार पर नकारने और स्वीकारने की प्रक्रिया शुरू हो जाती है। डॉ. अंबेदकर और गाँधी दोनों ऐसे ही नीम अध्ययन और समझ के शिकार हैं। अंबेदकर को सवर्ण समझना नहीं चाहते और गाँधी को दलित वेस्ट पेपर बास्केट में फेंक देना चाहते हैं। न सवर्णों के इस इकतरफा सोच में अंबेदकर अप्रासंगिक होंगे और न गाँधी को वेस्ट पेपर बास्केट में फेंका जाना ही संभव है।

डॉ. अंबेदकर ने अपनी पुस्तक *मि. गाँधी ऐंड द एमेंसीपेशन आफ द अनटचेबिल्स* की भूमिका में सम्पूर्ण मानव समाज को चुनौती दी है, ''यह दायित्व इस दुनिया का है कि वह सभी पिछड़े लोगों के साथ दलितों की जंजीरें तोड़कर उन्हें स्वतंत्र करें।'' इसका उल्लेख पहले भी हो चुका है। इस पर्चे को डॉ. अंबेदकर ने 1943 में 'पीस कांफ्रेंस' के लिए तैयार किया था। उन्होंने माना है कि अस्पृश्यता के सामने गुलामों, नीग्रो और यहूदियों की समस्यायें कुछ नहीं। हिंदुओं को दुनिया की अदालत (बार) के सामने जवाबदेह बनना पड़ेगा। गाँधी का भी यही कहना था कि हिंदू अपने इस पाप के लिए जवाबदेही से बच नहीं सकते।

डॉ. अंबेदकर ने अस्पृश्यता की समानता यहूदियों से करते हुए लिखा है कि उनकी स्थिति यहूदियों से भी बद्तर है। यहूदियों को तो अवसरों से ही वंचित किया गया परंतु अस्पृश्यों को तो नफ़रत का शिकार होना पड़ा। अगर मैं गलत नहीं हूँ तो यहूदियों को भी जर्मनी में हिटलर की नफ़रत का शिकार होना पड़ा था। देश छोड़कर

भागना पड़ा था। इसका मतलब यह नहीं कि अस्पृश्यों को अवसर उपलब्ध थे पर नफ़रत के साथ। उनका यह भी मानना है कि देश की आज़ादी की लड़ाई में यदि आज़ाद होने का किसी को अधिकार है तो अस्पृश्य वर्ग को। डॉ. अंबेदकर ने इसी पुस्तक के पृ. 28 पर लिखा है कि हिंदू सामाजिक व्यवस्था में सम्मान उच्च जातियों की तरफ जाता है और अपमान निम्न जातियों के लिए है। इसी बात को पृ. 46 पर उन्होंने और अधिक तकलीफ के साथ अभिव्यक्त किया है, हिंदू के पास एक आचार संहिता है जो हिंदूओं को अनेक अधिकार देती है और अस्पृश्यों के लिए अपमान ही अपमान है जो मानवीय अस्तित्व या जीवन (ह्यूमन डिग्निटी) की पवित्रता के विपरीत है। इसलिए उन्होंने इस बात पर पूरा ज़ोर दिया है कि भविष्य के संविधान में राजनीतिक ढाँचे और सामाजिक ढाँचे के बीच समानता का होना जरूरी है। उन्होंने हिंदुओं के इस तर्क को अस्वीकार किया है कि हिंदुओं की जातीय व्यवस्था और पश्चिम की श्रेणी या क्लास व्यवस्था समानान्तर है। जातीय व्यवस्था एक जाति को दूसरी जाति से अलग करती है। हालाँकि हिंदू अपनी इस व्यवस्था पर गर्व करते हैं। वे अपने को विशिष्ट मानते हैं। ये लोग विद्वेष में आकंठ डूबे हैं। उन्होंने कभी अस्पृश्यों की आकांक्षाओं की पूर्ति में सहायक होना तो अलग, उनकी तरफ देखना भी गवारा नहीं किया। वे समझते रहे कि उनसे उनका क्या सरोकार। उनके हित सर्वथा अलग हैं। हालांकि मानवीय हित लगभग सबके समान होते हैं। आर्थिक हित भले ही अलग–अलग हों।

डॉ. अंबेदकर *मि. गाँधी ऐंड द एमेंसीपेशन आफ द अनटचेबिल्स* में इस बात को रेखांकित करते हैं कि ब्रिटिश का भी साम्राज्य है, हिंदुओं का भी। क्या 'हिंदुइज़्म' साम्राज्यवाद का ही एक स्वरूप नहीं है और क्या अस्पृश्य एक पराधीन नस्ल नहीं है; तथा हिंदू मालिकों के प्रति ताबेदारी और निष्ठा उनकी नियति नहीं है। (पृ. 65 के अनुसार) उसी पृ. पर वे गाँधी से भी सवाल करते हैं ब्रिटिश पर विजय प्राप्त करनेके बाद वे क्या करेंगे? क्या वे उस आज़ादी का उपयोग अस्पृश्यों को स्वतंत्र करने के लिए करेंगे या वह आज़ादी अस्पृश्यों को बंधुआ बनाने के लिए हिंदुओं को और अधिक अधिकार

प्रदान करेगी? क्या गाँधी और हिंदू नया निज़ाम लायेंगे या वे परंपरागत जातियों और अस्पृश्यता को समानता, स्वतंत्रता, भ्रातृत्व के अधिकार से वंचित करके, हिंदू भारत की पुनर्स्थापना करेंगे? डॉ. अंबेदकर गाँधी पर खुला आक्रमण करते हैं। हिंदू टोरी हैं, गाँधी भी उनसे अलग नहीं। अगर गाँधी को खुरचकर देखा जाये तो उनकी उदारता के नीचे एक अभिजात्य टोरी का रक्त मिलेगा।

इसमें कोई शक नहीं कि जिस प्रकार हिंदुओं ने, खासतौर से उच्चवर्गीय सवर्णों, ने (जो ऐसा करने में सक्षम थे), अस्पृश्यता को हिंदू संस्कृति का हिस्सा बनाये रखने में योगदान किया, वह उनके अभिजात्य का ही हिस्सा है। वे गाँधी को भी उसी अभिजात्यता का ऐसा हिस्सा मानते हैं जो हिंदू धर्म को मज़बूत करना चाहता रहा है। दरअसल गाँधी भी इस बात को मानते थे कि अंबेदकर की नाराज़गी उचित है। उन्होंने और दलित वर्ग ने जितना झेला है उसको देखते हुए उनकी प्रतिक्रिया उचित है। वे हरिजन सेवक समाज पर भी एक के बाद एक प्रहार करते हैं। उनका पहला सवाल है क्या वे (गाँधी) हरिजन उद्धार के लिए वाकई काम कर रहे हैं? हरिजन सेवक समाज का उद्देश्य क्या है? क्या अस्पृश्यों को हिंदू स्वामियों से आज़ादी दिलाना है? क्या उनको सामाजिक और राजनीतिक स्तर पर समानता दिलाना है? इन सवालों का भी वे स्वयं ही उत्तर देते हैं कि न वे ऐसा करना चाहते हैं और न कर सकते हैं। यह काम या तो कोई स्वतंत्रतावादी कर सकता है या क्रांतिकारी। गाँधी दोनों में से कुछ भी नहीं। यह गाँधी का केवल अस्पृश्यता के संदर्भ में ही नकार नहीं है बल्कि गाँधी का सर्वांगीण नकार है जो अपने आप में उनके सोच पर उसी तरह प्रश्नचिन्ह लगाता है जैसा वे गाँधी पर लगाते हैं। डॉ. अंबेदकर के इस अधिकार का गाँधी भी विरोध नहीं करते। हरिजन सेवक समाज को वे अस्पृश्यों को उठाने वाला नहीं मानते बल्कि उसे हिंदुओं और हिंदुत्व को सुरक्षित बनाने की साज़िश कहते हैं।

एन्हिलेशन आफ कास्ट पुस्तक में पृ. 19 पर अंबेदकर ने इस प्रश्न को भी उठाया है कि महात्मा जाति और वर्ण का क्यों समर्थ करते हैं? उनका मत है कि वे डरते हैं कि अगर वे उसका विरोध करेंगे

तो राजनीति में जो उनका स्थान बना हुआ है वह छिन जायेगा? इस भ्रम का कुछ भी कारण हो परंतु महात्मा को जानना चाहिये वे वर्ण के नाम पर जाति का प्रचार करके अपने आप को तो धोखा दे ही रहे हैं और लोगों को भी दे रहे हैं। डॉ. अंबेदकर का यह कथन एक दृष्टि से ही सही है। ट्रावणकोर में 1924 में अस्पृश्यों ने सड़क पर चलने के अधिकार को लेकर एक सत्याग्रह किया था। वह एक वर्ष तक चला था। उसे गाँधी का समर्थन प्राप्त था। 1925 में सड़क पर चलने का अधिकार न देने पर अड़े ब्राह्मण वर्ग से बात करने के लिए गाँधी वैयक्कम गये थे। गाँधी के जीवन में हृदय परिवर्तन की बात एक गॉस्पल की तरह थी। 10 मार्च 1925 को गाँधी और वहाँ के ब्राह्मणों के बीच इस बात को लेकर एक शास्त्रार्थ हुआ था। भिक्खू पारिख ने अपनी पुस्तक *कोलोनाइज़ेशन : ट्रेडिशन ऐंड रिफोर्मेशन* में पृ. 223 पर इस शास्त्रार्थ का विवेचन किया है। वैयक्कम शास्त्रार्थ गाँधी के लिए निराशाजनक साबित हुआ था। उस शास्त्रार्थ के तुरंत बाद एक जनसभा में अपने भाषण में बहुत आहत भाव से इस बात को स्वीकार भी किया था। उसका भावार्थ है कि मैंने उनकी बुद्धि, उनकी मानवीयता और उनके अन्दर के हिन्दुत्व को छूने का प्रयत्न किया लेकिन मैं दुख के साथ स्वीकार करता हूँ, मैं जो सोचता था कि मैं उन्हें समझा पाऊँगा, वह मैं नही कर पाया। लेकिन निराशा मेरे शब्दकोष में नहीं है।

गाँधी का पहली बार कट्टर ब्राह्मणों से सामना हुआ था। पहली बार उन्हें ब्राह्मण वर्ग के पूर्वाग्रह और द्वेष की गहराई को अनुभव करने का अवसर मिला था। भिक्खू पारिख भी ऐसा मानते हैं उस समय गाँधी को लगा था कि इस कट्टर वर्ग का विश्वास जीतने के लिए उन्हें यकीन दिलाना होगा कि वे भी हिंदुत्व की रक्षा के प्रति उतने ही प्रतिबद्ध हैं जितना कोई और। इसके पीछे एक छोटी–सी पृष्ठभूमि थी। जब से गाँधी भारत आये थे वे हिंदू धर्म और समाज में सुधार की बात करते थे और ईसाई धर्म की प्रशंसा करते थे। उनके समाज सुधार का 'ईसाइयत को प्यार करने वाले व्यक्ति के रूप में' उनकी प्रतिष्ठा का सनातनी गलत ढंग से प्रचार करके उन्हें जातीय हिंदू वर्ग से अलग–थलग कर तथा हिंदू धर्म के प्रति उनकी निष्ठा

पर प्रश्न चिन्ह्य लगा कर, धर्म के बारे में बोलने के उनके अधिकार को कमज़ोर कर रहे थे। शायद बदली रणनीति के तहत गाँधी को अपनी विश्वसनीयता, धर्म के प्रति निष्ठा को पुनर्स्थापित करने और अपने समाज सुधारक पक्ष को घटाने का निश्चय किया। उन्होंने इस बात को स्वीकार भी किया कि मद्रास के दौरे के समय अस्पृश्यता के प्रश्न पर बात करते समय उन्होंने अपने सनातनी हिंदू होने पर बल दिया था।

इस संदर्भ में वैयक्कम की जनसभा में दिये गये भाषण का यह वाक्य विचार करने योग्य है कि 'निराशा मेरे शब्दकोष में नहीं'। दक्षिण अफ्रीका में भी जब उन्हें 'कोर्टरूम' से बाहर जाना पड़ा या पीटरमेरिट्ज़बर्ग स्टेशन पर डिब्बे के बाहर फेंका गया, या कोचवान द्वारा पीटा गया, इन तीनों घटनाओं से वे निराश नहीं हुए थे बल्कि बज़िद होकर उन्होंने दक्षिण अफ्रीका में रहने का फैसला किया। वैयक्कम में ब्राह्मणों से हुए विचार–विमर्श के बाद हुई निराशा का उन पर दो प्रकार से प्रभाव पड़ सकता था कि वे अपने को समाज सुधारक और ईसाई धर्म का प्रशंसक बताते रहते, उस हालत में हिंदू वर्ग को अपने साथ लाना उनके लिए कठिन हो जाता। या फिर वे निराश होकर बैठ जाते। गाँधी ने अपनी अस्पृश्यता निवारण रणनीति से, इन दोनों बातों को निकालकर, जिन बिंदुओं पर आक्रमण करना था उन्हीं का परचम हाथ में ले लिया। यह एक प्रयोग था। इसी मुद्दे पर पहले भी ब्राह्मण वर्ग का विरोध हुआ था परंतु उसके परिणाम निराशाजनक ही हुए थे। गाँधी ने जैसे दक्षिण अफ्रीका में रणनीति बदली थी कि वे पिटेंगे, अपमानित होंगे, (क्योंकि वहाँ के गोरे इसके सिवाय कोई दूसरा व्यवहार करने की स्थिति में नहीं थे) और उसका विरोध उन्हीं के अत्याचार को अपना हथियार बनाकर करेंगे। गाँधी का यह निर्णय उसी तरह का निर्णय लगता है कि वे सनातनी हैं और हिंदू धर्म के उसी तरह रक्षक हैं जैसे अन्य लोग अपने को मानते हैं। उनके इस निर्णय ने उन्हें हिंदू कट्टरवादियों पर अस्पृश्यता के मामले में हमला करने और अस्पृश्यता के प्रति अपने विरोध को छोड़ने की प्रेरणा देने का अवसर दिया। गाँधी डॉ. अंबेदकर की तरह विरोध करके कट्टरवादी हिंदुओं को नहीं बदल सकते थे। क्योंकि

उनकी स्थिति डॉ. अंबेदकर से सर्वथा भिन्न थी। इसलिए उन्होंने अपने इस पक्ष पर अधिक ज़ोर देना शुरू कर दिया कि वे हिंदुत्व की भावना से भरपूर हैं और अपने जीवन से अधिक अपने धर्म को प्यार करते हैं। यह निर्णय हिंदू मानसिकता को समझ लेने के बाद एक व्यावहारिक जीवन–सत्य के रूप में उनके सामने आया। यह बात भी गौर करने योग्य है कि हिंदू धर्म के प्रति प्रतिबद्धता जताये बिना वे किसी भी हालत में अपने अछूतोद्धार आंदोलन को वह शक्ल नहीं दे सकते थे जो उन्होंने दी। ऐसा करने के कारण उनके सुधार कार्यक्रम में कोई कमी नहीं आयी बल्कि और प्रखरता के साथ उसका कार्यान्वयन किया। उनके सामने एक बड़ी ज़बरदस्त चुनौती थी कि वे परंपरा की भाषा के साथ कैसे न्याय करें और परिवर्तन को परंपरा का पर्याय कैसे बनायें? डॉ. अंबेदकर और गाँधी की स्थिति में एक अंतर था। डॉ. अंबेदकर अपने वर्ग के लिए लड़ रहे थे। गाँधी उस वर्ग के खिलाफ लड़ रहे थे जो उनका होते भी उनका नहीं था।

उन्होंने बड़े सटीक ढंग से ब्राह्मणीय या शास्त्रीय मान्यताओं से अलग हटकर सनातन धर्म के बारे में अपनी एक परिभाषा दी, ''सनातन धर्म का पालन करने वाला सनातनी है। *महाभारत* के अनुसार उसका अर्थ है अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह, शुचिता और आत्मसंयम। मैं उनका अपनी योग्यता के अनुसार पालन करने का प्रयत्न करता हूँ।''

वैयक्कम में ब्राह्मण वर्ग ने हिंदू धर्म के समर्थन में जो तर्क दिये थे गाँधी ने संभवतः उन्हीं बिन्दुओं को ध्यान में रखकर इस परिभाषा को बनाया था। गाँधी महात्मा बनने से पूर्व भी अपने निर्णय अपने आंतरिक और व्यावहारिक बुद्धि से लेते थे। हो सकता है मानने वाले इसे गाँधी की कमज़ोरी कहें लेकिन उनकी यह विशिष्टता भी थी कि वे विषम से विषम स्थिति का ठीक तरह से विश्लेषण करके अपनी कार्यविधि तैयार करते थे। इस सबके बावजूद अपने मूल उद्देश्य को अपनी दृष्टि की परिधि से बाहर नहीं जाने देते थे। उन्होंने हिंदू कट्टरवादियों को ध्यान में रखते हुए हिंदू धर्म की भी एक वैज्ञानिक दृष्टि से व्याख्या की। उनका मानना था कि हिंदू धर्म उतना धर्म नहीं जितना आत्मा का विज्ञान है। समय और युग के अनुसार नये

आविष्कार करता है और अंतर्दृष्टि को पुनर्व्याख्यायित करता है। (*यंग इंडिया,* 8 अप्रैल 1926, 20 अक्तूबर 1927, *हरिजन* 5 जून, 3 अगस्त 1934 के अनुसार) इस तर्क से गाँधी ने हिंदू धर्म को अस्पृश्यता के विरुद्ध व्याख्यायित ही नहीं किया प्रकारांतर से उस के कट्टरपन पर प्रहार भी किया। शायद अपनी इस व्याख्या से वे हिंदू वर्ग को यह बताना चाहते थे कि हिंदू धर्म जड़ नहीं है। आप जड़ क्यों हैं?

गाँधी प्रारंभ से 'नीति–संपन्न' व्यक्ति थे। स्थितियों के अनुसार निर्णय लेने का कौशल भी उनमें था। 'अस्पृश्यता और गाँधी का अंतर्संघर्ष' निबंध इस तरह के उदाहरणों के संदर्भ में उल्लेखनीय है। गाँधी के सामने जब अंग्रेज़ों को देश से बाहर निकालने के लिए मांस खाने की अनिवार्यता का प्रस्ताव आया तो उन्होंने मांस खाना शुरू कर दिया। जब उन्हें लगा मांस–भक्षण उन्हें बा से झूठ बोलने के लिए बाध्य करता है तो उन्होंने उसे छोड़ दिया। मँझले भाई की प्रेरणा से, उसी के सोने के कड़े से सोना चुराने की घटना के बारे में स्वतः पिता को पत्र लिखकर गुनाह स्वीकार कर लेना और उसमें अपने भाई की भूमिका का उल्लेखन करना उन्हें अपने कर्मों का दृष्टा भी बनाता है। उका के प्रति आत्मीयता और बा के विरोध का उन्होंने बालपन में निर्वाह किया। उका को छू लेने पर किसी मुसलमान को छूकर पवित्रता अर्जित करना उनका मन रखना और फिर बा का विरोध करना। बालपन में बा के साथ मंदिर जाना लेकिन अन्दर न जाकर बाहर खड़े रहना। बनारस के विश्वनाथ मंदिर में गंदगी देखकर मंदिर न जाने का निश्चय कर लेना। कलकत्ता के काली मंदिर में दी जाने वाली बलि से व्यथित होकर वहाँ बैठे पंडित के सामने विरोध जताना इन सब बातों की पृष्ठभूमि में फादर जोज़फ से कहा गया उनका यह वाक्य जिसका उल्लेख *गाँधी के अंतर्संघर्ष* में भी हुआ है, महत्वपूर्ण हो जाता है कि ''कुछ समय के लिए मैं एक हद तक नास्तिक था।''

ऐसा लगता है गाँधी कुछ ही समय के लिए नास्तिक नहीं थे बल्कि उनकी आस्था जीवनभर नास्तिकता और आस्तिकता की दोधारी तलवार पर चलती रही। अपनी नास्तिकता से वे अपने अंधविश्वासों और कर्मकांडों को घास पतवार की तरह छाँटते रहे

और अपनी अर्जित आस्तिकता द्वारा आस्था के सकारात्मक मूल्यों से जोड़ते रहे। आत्मनिर्मित आस्था को, जो परंपरागत आस्था से भिन्न थी, उन्होंने अपने आत्मसंघर्ष और जगसंघर्ष का प्रभावी हथियार बनाया। चाहे वह राजनीति हो अथवा हरिजन उद्धार आंदोलन। आस्था में छिपी नास्तिकता शायद धार्मिक आडंबर को ध्वस्त करने का हथियार था। आप इसे उनके व्यक्तित्व का विरोधाभास कह सकते हैं। गाँधी ने परंपरागत ईश्वर को अपना ईश्वर नहीं माना। उन्होंने उस ईश्वर को ईश्वर माना जो सभी धर्मों की आस्था का केंद्र है। वे यह जानते थे ईश्वर और धर्म को नकार कर इस देश में कोई अपनी बात नहीं मनवा सकता। कम से कम एक ऐसा सामान्य व्यक्ति तो नहीं, जिसका धार्मिक सत्ता से कोई लेना देना न हो। डॉ. अंबेदकर भी इस तथ्य से अवगत थे। दोनों के समर्थन क्षेत्र धर्म थे। गाँधी का स्व–परिभाषित हिंदू धर्म और डॉ. अंबेदकर ने हिंदू धर्म को त्याग कर बौद्ध धर्म को अपना समर्थन क्षेत्र बनाया। धर्म का आधार भारतीय समाज में काफी मज़बूत आधार है। साम्यवाद यद्यपि तार्किक और सामाजिक दृष्टि से एक प्रासंगिक और आधुनिकतम मानव दर्शन है। परंतु उसका समर्थन क्षेत्र धर्म से जुड़ा न होने के कारण उसका आधार अस्थिर रहा है। आर्थिक समृद्धि अंतिम नहीं होती। उसके बाद मनुष्य को एक–दूसरे मज़बूत आधार की ज़रूरत पड़ती है।

एक और बात, आखिर गाँधी ने सर्वमान्य ईश्वर को ईश्वर के रूप में अस्वीकार करके सत्य को ईश्वर क्यों माना? क्या इसके पीछे जोज़फ डोक के सामने की गई वह आत्मस्वीकृति थी कि वे कुछ समय तक नास्तिक थे? क्योंकि ऐसा कोई चमत्कार नज़र नहीं आता जिसने उन्हें नास्तिक से आस्तिक बना दिया हो। यह सही है कि वे अपने छात्र जीवन में कई स्थानों पर ईश्वर की सत्ता की याद करते हैं। उसके बरक्स जब एक ईसाई पादरी, बा की दी हुई गले की कंठी तोड़ने के लिए हाथ बढ़ाता है तो वे कंठी को तोड़ने से इसलिए नहीं रोकते कि उसमें उनका विश्वास है बल्कि इसलिए रोकते हैं कि वह उनकी बा ने लंदन जाते हुए उन्हें पहनायी थी। कबीर ने कहा 'साँच बराबर तप नहीं'। कबीर का यह कथन गाँधी के 'सत्य

ही ईश्वर है' का मार्ग निर्देशक भी हो सकता है। क्योंकि गाँधी अपने 'सत्य' की खोज के लिए मानसिक और बौद्धिक तप की भट्ठी में अपनी तरह से तपे हैं। सत्य को अंतिम रूप से पाना आसान नहीं पर जितना सत्य जिसके हाथ लग जाय वही उसके लिए अनित्य हो जाता है। डॉ. अंबेदकर ने भी कबीर से सीखा और गाँधी ने भी। दोनों ने जो पाया वह समान भी है, भिन्न भी।

इस बात को कहने का खतरा उठाते हुए भी कहना जरूरी है कि चिंतन के स्तर पर गाँधी और अंबेदकर में समानतायें थीं। भले ही उनके निष्कर्ष अलग–अलग हों। भले ही डॉ. अंबेदकर का जातीय हिंदू वर्ग के द्वारा भेदभाव, उपेक्षा और मानव–विरोधी धार्मिक मान्यताओं पर आधारित कर्मकाण्ड के कारण हिंदू धर्म से मोहभंग हो गया हो। मोहभंग तो जो हुआ वह हुआ ही उससे घृणा भी हो गई। उन्होंने *एन्हिलेशन आफ कास्ट* के 120–121 पृष्ठ पर सम्पूर्ण दार्शनिकता के साथ लिखा है, ''मैं महात्मा को आश्वस्त करना चाहता हूँ कि यह केवल हिंदुओं और हिंदू धर्म की असफलता नहीं है जिसने मुझमें घृणा और तिरस्कार की भावना भर दी। मैं जानता हूँ कि यह दुनिया पूरी तरह अपूर्ण है। और जिसे भी इस दुनिया में रहना है वह इस अपूर्णता के साथ रहने के लिए बाध्य है। लेकिन जबकि मैं इस समाज की अपूर्णता और कमियों के साथ रहने और जीने के लिए तैयार हूँ, मैं अनुभव करता हूँ मुझे किसी ऐसे समाज में रहने को सहमत नहीं होना चाहिये जिसके आदर्श त्रुटिपूर्ण हों या वह समाज जिसके आदर्श तो सही हों परंतु वह अपने सामाजिक जीवन को उनके अनुरूप बनाने के लिए तैयार न हो।''

डॉ. अंबेदकर का यह कथन तर्कपूर्ण तो है ही उनकी व्यथा को भी रेखांकित करता है। गाँधी ने भी इस धार्मिक अपूर्णता और ध ार्मिक अवसाद पर टिप्पणी की है। वे हिंदू धर्म की हर तरह से प्रशंसा करते हुए इस बात को कहने से नहीं चूकते, अगर अस्पृश्यता हिंदू धर्म का अंग है तो हिंदू धर्म भी मेरे लिए त्याज्य हो सकता है। डॉ. अंबेदकर के उपरोक्त वक्तव्य से दो बातें स्पष्ट हैं, वे इस बात को प्रकारांतर से स्वीकार करते हैं कि हिंदू धर्म के आदर्श तो सही हैं परंतु वह अपने सामाजिक जीवन को उनके अनुरूप बनाने के

लिए तैयार नहीं। यह एक कटु सत्य है। यह कटु सत्य सभी धर्मों पर लागू होता है चाहे वह इस्लाम हो या ईसाई धर्म या अन्य कोई और। डॉ. अंबेदकर ने हिंदू धर्म छोड़कर बौद्ध धर्म इसलिए अपनाया क्योंकि वह हिंदू धर्म के मुकाबले ज्यादा खुला था। लेकिन उसकी भी अपनी सीमायें थी। 'अस्पृश्यता और परंपरा' निबंध में डॉ. धर्मवीर के विश्लेषण का इस संदर्भ में उल्लेख हुआ है। डॉ. अंबेदकर भी इस स्थिति से अनभिज्ञ नहीं थे। वरना वे नव बौद्धों के लिए अलग से शपथपत्र न बनाते। भले ही वह शपथपत्र मूलतः हिंदू धर्म के विरोध में हो परंतु अन्य बातों का भी उसमें उल्लेख है और आगे चलकर उसका विस्तार भी हो सकता है। दूसरी बात है कि इस तरह के प्रयत्नों से किसी भी धर्म में घुस आयी मूल विकृतियों पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। गाँधी के अनुभव से भी इस बात का अंदाज़ होता है। गाँधी ने जातीय हिंदुओं का मन बदलने की कम कोशिश नहीं की। हिंदू धर्म की परिभाषा तक बदली। इतना अंतर अवश्य हुआ कि पढ़े–लिखे वर्ग और शहर में रहने वाले सवर्णों में परिवर्तन का श्रेय गाँधी को जाता है। गाँधी का उद्देश्य अस्पृश्यता के बारे में सवर्णों की सोच में परिवर्तन लाना था। लेकिन गाँधी के बावजूद हिंदुओं का बहुत बड़ा हिस्सा अभी भी अस्पृश्यता से पंकिल है। इसी प्रकार बाबा साहब के प्रयत्नों के बावजूद ग्रामीण अंचलों में उन सब जातियों में अस्पृश्यता का रोग मौजूद है जिन्हें उन्होंने अस्पृश्य कहा, या थीं, और हैं। उनमें अंतर आया होगा जिन्होंने हिंदू धर्म छोड़कर बौद्ध धर्म अपना लिया।

हिंदू ग्रंथों में प्रभावी रूप से प्रचलित और उपलब्ध स्पृश्यता विरोधी पाइ, गाँधी का मत है, एक क्षेपक है। हिंदू धर्म के पाठ का हिस्सा कदापि नहीं। अगर है तो वे उसे नकारते हैं। जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है कि *एन्हिलेशन आफ कास्ट* में डॉ. अंबेदकर ने प्रकारांतर से इस बात को स्वीकार किया है कि हिंदू धर्म के आदर्श ठीक हैं पर वे उनको अपने सामाजिक व्यवहार में नहीं लाते। उनकी यह बात सही है। जैसा कि ऊपर कहा गया है, हर धर्म इस प्रकार के विरोधाभासों का शिकार है। किसी भी धर्म को सबसे ज्यादा उसके वर्चस्वाकांक्षी अनुयायी बिगाड़ते हैं। नई–नई व्यवस्थायें देकर,

उन्हें धर्म ग्रंथों में जोड़कर, धर्मकी मूल भावना और उसका स्वरूप इतना बदल जाता है कि यदि उसके आदि प्रवर्तक या सृजक उसे देखें तो शायद पहचान न पायें। नव बौद्धों में भी ऐसे हैं जो शपथ लेने के बावजूद हिंदू देवी–देवताओं की पूजा करते हैं। उन्होंने भौतिक कारणों से धर्म तो बदल लिया परंतु मूल संस्कार अभी भी यथावत् मौजूद हैं। हर धर्म परिवर्तन के बाद अगली पीढ़ी शायद अधिक प्रतिबद्ध होती है। राजस्थान में ऐसे मुसलमान हैं जो क्षत्रिय थे पर धर्म परिवर्तन के सैंकड़ों वर्षों बाद आज भी विवाह आदि के अवसर पर हिंदू कर्मकाण्ड का सहारा लेते हैं। ईसाई और सिक्खों के साथ भी ऐसा है। सिक्खों के साथ तो खासतौर से। दरअसल मनुष्य जब असुरक्षा का शिकार होता है (लालच का भी) तो वह अपनी और परिवार की सुरक्षा और समृद्धि के लिए किसी भी देवी–देवता की पूजा करने से नहीं हिचकता। हिंदू मज़ारों पर भी जाते हैं और बौद्ध मंदिरों में भी पूजा–अर्चना करते हैं। गुरुद्वारों में तो जाते ही हैं। धर्म की स्थिति और मानसिकता बहुत उलझी हुई है।

शैवालिक एंटर प्राइज़ेज, नई दिल्ली से छपी पुस्तक *स्लेवरी ऐंड अनटचेबिलिटी व्हिच इज वर्स?* में पृ. 40 पर उल्लिखित इस बात से सहमत हुए बिना नहीं रहा जा सकता कि हिंदू केवल उन्हीं जातियों के लोगों को अस्पृश्य मानते रहे हैं जो अहिंदू थे और हैं। वे सब हिंदू जातियाँ जो गोमांस खाती हैं वे भी अस्पृश्य की श्रेणी में आती हैं। पाकिस्तान बनने के पीछे एक कारण उत्तरी भारत में मुसलमानों को अस्पृश्य माना जाना भी था। अस्पृश्यता के पीछे अपवित्रता या व्यक्ति प्रदूषण ही कारण नहीं है, धार्मिक विद्वेष भी है। जिसे परंपरा और स्मृतियों ने उचित ठहराया है।

डॉ. अंबेदकर ने उक्त पुस्तक के पृष्ठ 30 पर अस्पृश्यता के संदर्भ में आर्थिक प्रश्नों को भी छुआ है। उनका मत है कि अस्पृश्यता गुलामी से भी ज्यादा गई गुजरी है। गुलामी में तो रोटी–रोज़ी की सुरक्षा भी है, अस्पृश्यता के क्षेत्र में ऐसी कोई सुरक्षा नहीं। अस्पृश्यता का दाग, स्पृश्यों के मुकाबले, उनका पलड़ा हल्का कर देता है। उन्हें अंत में काम मिलता है पर निकाले सबसे पहले जाते हैं। डॉ. अंबेदकर की यह बात एक सवाल उठाती है कि एक गुलाम मालिक

की संपत्ति होता है और देखभाल की जिम्मेदारी मालिक की होती है इसलिए वह बेहतर है। यह बात उसके हित में जाती है जबकि एक अस्पृश्य भूखा मरने के लिए छोड़ दिया जाता है। वह गुलाम न होकर स्वतंत्र है। यह तर्क थोड़ा विवादास्पद है। बावजूद सब कठिनाइयों के स्वतंत्रता और गुलामी की बराबरी शायद इस रूप में नहीं हो सकती। देश की स्वतंत्रता की लड़ाई के दौरान, आज़ादी मिलने से पूर्व 'डिप्रेस्ड क्लास' की स्वतंत्रता के प्रश्न पर निर्णय लिए जाने के आग्रह के पीछे डॉ. अंबेदकर के मस्तिष्क में यह मानवीय बिंदु रहा होगा। लेकिन स्वतंत्र व्यक्ति अपनी सारी मज़लूमियत के बावजूद, भले ही किसी जाति, धर्म का हो, एक गुलाम से अधिक संभावनाओं और आशा का स्वामी हो सकता है। कम ही सही परंतु जिंदगी का प्रवाह बदलने का अवसर, मरते–मरते भी जिंदा रहता है। उसके अनेक उदाहरण तब भी थे और आज भी हैं।

डॉ. अंबेदकर का तीसरा तर्क सर्वथा मान्य है कि दासता के साथ अस्पृश्यता की तरह अनिवार्यता नहीं जुड़ी। दास स्वतंत्र हो सकता है। लेकिन अस्पृश्यता जन्मना है। यह भी सही है कि न स्पृश्य अस्पृश्य हो सकता है और न अस्पृश्य स्पृश्य। ये सब प्रश्न मनुष्य की मौलिक आज़ादी से जुड़े प्रश्न हैं जिन्हें आकस्मिक तौर पर स्वीकार या अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

. . . 'हिंदू' गाँधी : एक

डॉ. अंबेदकर उन चंद विभूतियों में हैं जो बौद्धिक प्रखरता का दबाव इस तरह बनाते हैं कि पाठक उनके चिंतन की परिधि के बाहर जाकर सोचने की स्थिति में नहीं रहता। उनके वैचारिक प्रभामंडल से बाहर आकर अपने यत्किंचित सोच की तरफ़ वापिस लौटना कठिन भी होता है और समय भी लगता है। वैसे भी डॉ. अंबेदकर विचार की दृष्टि से अधिक तर्कसंगत और आक्रमक हैं। उनकी पुस्तक *मि. गाँधी ऐंड द एमेंसीपेशन ऑफ द अनटचेबिल्स* पढ़ते समय जो बातें दिमाग में आती हैं वे उनकी प्रस्थापनाओं के बारे में गहराई से सोचने के लिए बाध्य करती हैं। वे स्थापनायें गहरे जातीय सरोकार, भावनात्मक संलग्नता, वैचारिक पृष्ठभूमि, समाजशास्त्रीय विश्लेषणात्मकता और साफ़गोई के साथ प्रस्तुत की गई हैं। घनश्याम बिरला के एक पत्र के उत्तर में लिखे गये जवाब में गाँधी ने डॉ. अंबेदकर का ज़िक्र किया है जो उस ज़माने में ब्राह्मणों के बौद्धिक दबदबे की ओर भी प्रकारांतर से संकेत करता है। गाँधी बहुत समय तक, शायद उनकी विद्वता के कारण, डॉ. अंबेदकर को ब्राह्मण समझते थे। यह बात गाँधी जी की अल्पज्ञता भी है और दलितों की नाराज़गी का कारण भी। इस बात पर काफी विवाद भी रहा। उस पत्र में गाँधी ने लिखा था ''वे हम लोगों में (सवर्णों में) बौद्धिकता और योग्यता की दृष्टि से श्रेष्ठतम लोगों के बराबर हैं।''

डॉ. अंबेदकर की स्थापनाओं और वक्तव्यों में उनका मानवोपयुक्त गुस्सा भी है जो उनकी बुनियादी ईमानदारी की ओर संकेत करता है। उनकी इस बात से असहमत नहीं हुआ जा सकता कि 'हर हिंदू की चेतना में जातीय बोध भरा हुआ है'। इस बात का प्रमाण एक साक्षात

अनुभव के द्वारा भी हुआ। एक विद्वान से, जो इत्तफाक से ब्राह्मण है, मज़ाक में कहा गया था कि आप तो गर्दन इतनी ऊँची करके चलते हैं कि इधर–उधर देखते तक नहीं। उन्होंने भी हँसकर जवाब दिया – यह जातीय गुण है। हो सकता है उन्होंने अपने जातीय अभिमान पर व्यंग्य किया हो परंतु इसके पीछे छिपे जातीय बोध को नकारा नहीं जा सकता। दूसरी स्थापना और भी महत्त्वपूर्ण है – 'गुलामी से मुक्ति हो सकती है परंतु अस्पृश्यता जन्मजात है।' तीसरी बात चुटीली भी है और तथ्यात्मक भी – 'ब्रिटिश का भी साम्राज्यवाद है और हिंदू का भी।' क्षमा करें, अगर इसके साथ यह भी जोड़ दिया जाए तो असंगत नहीं होगा कि ब्रिटिश अपने हितों की रक्षा में निरंकुश हो जाते होंगे लेकिन उनका सामान्य आधार कायदे–कानून, न्यूनतम नैतिकता है, भले ही वे अलिखित संवैधानिक परंपराओं से निर्देशित होते हों। हिंदू साम्राज्यवाद के आधार कर्मकांड, रूढ़ीवाद, धर्म से जुड़ी संगत–असंगत परंपरायें हैं। उनकी निरंकुशता पर अंकुश लगाना स्वयं ईश्वर के वश की भी बात नहीं।

भारतीय मताधिकार के संबंध में निर्मित लोथियन कमेटी को डॉ. अंबेदकर द्वारा स्वतंत्र रूप से दिये गये प्रत्यावेदन में लिखा था ''जातीयता और अस्पृश्यता हिंदू समाज में एक स्टील फ्रेम की तरह है . . . धार्मिक अंधविश्वास की तरह है . . . सामान्य हिंदू उन्हें धर्म का हिस्सा मानता है।' उसी में उन्होंने यह भी लिखा, ''भारतीय इतिहास में अस्पृश्यता को उखाड़ फेंकने की दिशा में अनेक महात्माओं के द्वारा किये गये प्रयत्नों का उल्लेख है उनमें बुद्ध, रामानुज, और अनेक वैष्णव संत शामिल हैं। हिंदुओं के लिए अस्पृश्यता को मानना धार्मिक वरीयता या प्राथमिकता है और न मानना पाप। जब तक यह मान्यता प्रचलित रहेगी अस्पृश्यता भी बनी होगी।'' इसका उद्धरण 28 अप्रैल 1927 के 'यंग इंडिया' में मिलता है। इससे दो बातें पता चलती हैं – एक, हिंदुओं की अस्पृश्यता के संबंध में अपरिवर्तनीय मानसिकता और दूसरी, महान संतों द्वारा किये गये प्रयत्नों द्वारा उसका उन्मूलन न हो पाना। वे आज़ादी का असली हकदार उन अस्पृश्यों को मानते हैं जो हज़ारों वर्षों से धार्मिक, सामाजिक भेदभाव और राजनीतिक अवमानना व गुलामी में जकड़े हुए हैं। उनका सवाल है कि आज़ादी

पर पहला अधिकार उन उपेक्षितों का है या उस वर्ग का है जो हर व्यवस्था में अपना वर्चस्व बनाये रखने में सफल रहा है तथा निम्न वर्गों को अपनी मातहती में रखकर उसे अमानवीय स्थिति में जीने के लिए बाध्य करता रहा है। इन प्रश्नों का जवाब जातीय हिंदू वर्ग पर एक ज़िम्मेदारी है। डॉ. अंबेदकर का एक और महत्वपूर्ण सवाल है, ब्राह्मण समुदाय विद्वानों और धर्माचार्यों का समुदाय रहा है। जब कैथोलिक चर्च में वाल्टेयर जैसा विद्रोही उत्पन्न हो सकता है तो ब्राह्मण समुदाय में वाल्टेयर क्यों नहीं पैदा हो सकता? उस वर्ग में से किसी ने अस्पृश्यता की समस्या का विश्लेषण करने और उसके मानवीय पक्ष को समझने की कोशिश क्यों नहीं की? शायद इसलिए कि उनके सामने अस्पृश्यता विचारणीय प्रश्न था ही नहीं। वह उनके लिए सामान्य और स्वाभाविक स्थिति थी।

उनके इस प्रश्न से जुड़ा एक और पक्ष है। हिंदू समाज 'वसुधैव कुटुम्बकम्' को अपनी सार्वभौमिकता का आधार बताता रहा है लेकिन क्या उसने अपने अंदर झोंककर यह देखने की आवश्यकता समझी कि उन्होंने इसका अर्थ किस सीमा तक समझा और जो समझा उसका हिंदू समाज में कितना समावेश हो पाया? वसुधा जितनी विशाल है कुटुम्ब उतना ही छोटा होता है। एक इकाई मात्र। लेकिन कुटुम्ब वसुधा के विस्तार को समेटने की कल्पना से युक्त है। इन सब बातों की पृष्ठभूमि में यह बात लामुहाला सामने आती है कि किस कुटुम्ब की बात करते हैं? साम्राज्यवादी कुटुम्ब की या उस मुक्त समाज की जिसमें सब समान हों। इसी से जुड़ी एक बात और है, क्या इस संकीर्णता और विचार विहीनता के लिए समस्त हिंदू दोषी हैं? शायद हैं। क्योंकि उन्होंने अपनी स्वतंत्र चिंतन पद्धति को या तो विकसित नहीं होने दिया या फिर चिंतन की ज़िम्मेदारी किसी एक वर्ग को देकर दायित्व मुक्त हो गये। जब परनिर्भरता इतनी बढ़ जाती है, चाहे वह समाज हो या धर्म या विचार या आर्थिक पक्ष, कि हमारी ओर से दूसरे ही विचार करें तो हम एक तरह विकलांगता को अंगीकार कर लेते हैं। यह मनुष्य या समाज के उपक्रम (इनिशियेटिव) को बाधित ही नहीं करता बल्कि उसे त्यागने के लिए बाध्य हो जाता है। यह कुछ इरादतन हुआ, कुछ साज़िशवश

और कुछ होने दिया गया।

इसी संदर्भ में जब अंबेदकर गाँधी जी के अछूतोद्धार का ज़िक्र करते हैं तो वे अपने आक्रोश को दबाने का प्रयत्न नहीं करते। *मि. गाँधी ऐंड द एमेंसीपेशन ऑफ द अनटचेबिल्स* पुस्तक के दसवें परिच्छेद ''हिंदुओं और उनके मित्रों से कुछ सवाल' के अंतर्गत वे उन्हें प्रश्नों के घेरे में लेते हैं। ऐसा लगता है उनका आक्रमण हिंदू व्यवस्था पर उतना नहीं जितना ज़ोर गाँधी की बदनियति को रेखांकित करने पर है। उनके इस पूरे विमर्श को पढ़ने पर लगता है कि गाँधी ने 'हरिजनोद्धार; के संदर्भ में जो कुछ कहा और किया वह उन्हें नहीं करना चाहिये था। उन्हें क्या अधिकार था सवर्ण होते हुए अछूतोद्धार को अपने साथ जोड़ने का? वैसे एक तरह से सवर्ण तो महात्मा फुले भी थे। भले ही चौथे वर्ण में आते हों। गाँधी उनके आरोपों को नकारते हैं और न उस पर कोई विशेष प्रतिक्रिया ही देते हैं। वे उन सवालों पर मौन नज़र आते हैं। दो ही बातें हैं, या तो डॉ. अंबेदकर के सवालों/आरोपों का उनके पास कोई उत्तर नहीं था या फिर वे उनके सवालों का जवाब अपने कार्यक्रमों द्वारा देना चाहते रहे हों, जो दिया भी।

इस बात का पहले भी उल्लेख हुआ है कि डॉ. अंबेदकर पहले एक प्रखर बुद्धिजीवी है, गाँधी की तरह सामाजिक कार्यकर्ता या 'एक्टीविस्ट' नहीं। उनकी पृष्ठभूमि भी गाँधी से भिन्न है और विचार पद्धति भी। सवर्णता का प्रश्न छोड़ भी दिया जाय तो अंबेदकर मूलतः प्रतिष्ठान, विधान और संविधान में विश्वास रखने वाले व्यक्ति हैं। उनका सम्पूर्ण तर्क उसी अनुशासन में जगह बनाता है। यह उनकी शक्ति है। शायद यह उनकी विवशता भी है क्योंकि वे सवर्णों द्व ारा एक स्वीकार्य व्यक्ति के रूप में स्वीकार्य नहीं रहे। इसलिए उन्होंने तार्किकता को जातीय–मुक्ति के माध्यम के रूप में चुना और शायद ब्रिटिश को अपना मित्र। ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध गाँध ी ने सत्याग्रह और अहिंसा को चुना था। तर्क के साथ दो बातें हैं, न तो वह अराजक होता है न निरंकुश। वह किसी न किसी ध ारणा या मान्यता से बँधा रहता है। भले ही उसका बाहरी स्वरूप अराजकतावादी हो। उसके बरक्स एक 'एक्टीविस्ट' का तर्क उसके

कार्यक्षेत्र से बनता है। बशर्ते कि कार्यक्षेत्र उसके व्यक्तित्व का हिस्सा बन चुका हो। यह जरूरी नहीं कि कार्यक्षेत्र ही उसके चिंतन का आधार हो, विचार भी हो सकता है, दर्शन भी हो सकता है। न भी हो तो उसका कार्यक्षेत्र और समर्पण उसके लिए बौद्धिक उत्प्रेरक का काम करता है। एक बौद्धिक या विचारक की एक सीमा हो सकती है। भले ही उसका चिंतन और विश्लेषण समाजमूलक हो परंतु उसका व्यक्तिगत अनुभव भी उसके वैचारिक अनुशासन में हस्तक्षेप कर सकता है। यह बात अलग है कि वह सामान्य लोगों की तरह उस पर हावी न हो पाये। यह उसकी तेजस्विता भी है और सीमा भी। उदाहरण के लिए मार्क्स के पास इतिहास से मिला द्वन्द्वात्मकता को व्याख्यायित करने के लिए यूरोपीय औद्योगिक परिवेश या अनुभव जो भी कहिये था। उसने उनके चिंतन और निष्कर्षों को प्रामाणिकता प्रदान की। यूरोप के लिए एक व्यावहारिक विकास का रास्ता सामने आया। लेकिन एशियाई देशों के खेतीहर परिवेश के बारे में उन्होंने पढ़ा तो था परंतु उसमें उनका उतना निजपन नहीं था। इसलिए वे औद्योगिक कर्मियों के माध्यम से ही क्रांति की परिकल्पना व्यापकता के साथ कर पाये, किसान क्रांति की नहीं जबकि संसार में किसान या कृषक गुणात्मक ढंग से अधिक हैं और प्राचीन हैं। यही बात भारतीय जातीय व्यवस्था और एशियाई स्त्री–समाज की स्थिति पर लागू होती है। चूँकि उनके विश्लेषण और चिंतन का आधार मुख्यतः औद्योगिक श्रमिक हैं अतः उन्होंने उसी आधार पर 'प्रोलितेरियत' की 'डिक्टेटरशिप' का दर्शन विकसित किया। यह बात अलग है, कम्युनिस्ट पार्टियाँ खेतिहर मज़दूरों को 'प्रोलितेरियत' के अंतर्गत मानकर उनकी समस्याओं की बात करती हैं। दलित को भी उन्होंने उसी में ले लिया। अलग से उनकी समस्याओं के बारे में वे कोई चिंतन विकसित नहीं कर पाए। वरना उनके चिंतन से दलित–समस्या को और भी दिशा मिली होती। उस बारे में वे उतने संवेदनशील नहीं थे। कहने का अर्थ यह है कि बावजूद सम्पूर्ण वस्तुपरकता और व्यापक चिंतन के, विचारक का व्यक्तिगत अनुभव और ज्ञान, सकारात्मक और नकारात्मक दोनों ही तरह से, हस्तक्षेप करता है। यह आक्षेप नहीं है। चिंतन प्रक्रिया में व्यक्तिगत सूचनाओं,

अनुभवों और कभी–कभी आग्रहों का समावेश हो जाना स्वभाविक है। उसकी अपर्याप्तता कई बार चिंतन में व्यवधान का काम भी करती है और व्यापक भी नहीं होने देती है।

'एक्टीविस्ट' या कार्यकर्ता के संदर्भ में उसका अनुभव मुख्य होता है। यदि जागरूक और चिंतनशील कार्यकर्ता होता है तो उसके सामने वैचारिकता का द्वार भी खुला रहता है। उसके निष्कर्षों में भी उस तरह वैचारिकता का हस्तक्षेप होता है जैसे दार्शनिक या चिंतक की चिंतन–प्रक्रिया में उसके अनुभवों और व्यक्तिगत आग्रहों का हस्तक्षेप होने का अंदेशा रहता है। परंतु कार्यकर्ता अनुभवजन्य वस्तुपरकता से अपने को उस सीमा तक मुक्त नहीं कर पाता जितना एक विचारक कर लेता है। उसकी वस्तुपरकता अनुभव से ही जन्म लेती है। दार्शनिक की वस्तुपरकता विचार से, जो वस्तुनिष्ठ चिंतन प्रक्रिया पर निर्भर करती है। इसीलिए उसमें वायवीयता का अंदेशा भी रहता है। गाँधी पर उनके सामाजिक रचनात्मक चिंतन और अनुभव का दबाव ज़्यादा है। उनका सवर्ण होना उनकी व्यक्तिगत सीमा है। डॉ. अंबेदकर का अवर्ण होना उनके दलित चिंतन को प्रामाणिकता देता है। दलित प्रश्न पर अंबेदकर की प्रमाणिकता को संदिग्ध नहीं कह सकते। क्योंकि वे हैं। फिर भी उनकी व्यक्तिपरकता उनके मूल्यांकन के संदर्भ में प्रतिमूल्यांकन की स्थिति पैदा करती है। चिंतन और मूल्यांकन की दुनिया में यही सबसे बड़ी कठिनाई है कि कोई भी क्यों न हो, वह मूल्यांकन और प्रतिमूल्यांकन की स्थिति से कभी मुक्त नहीं हो पाता। अस्पृश्यता के प्रश्न पर गाँधी और अंबेदकर दोनों की भूमिकाओं में भिन्नता है। हालाँकि उतना अंतर भी नहीं। डॉ. अंबेदकर के लिए वह आपबीती है। अतः उनकी प्रतिक्रियायें और चिंतन प्रामाणिक, पर व्यक्तिपरक हैं। गाँधी के संदर्भ में वह जगबीती है क्योंकि वे सवर्ण हैं। भले ही उन्होंने दक्षिण अफ्रीका के बीस वर्षों में भारतीयों की, जिनमें ज़्यादातर निम्न जातियों के थे, बद से बदतर स्थितियाँ देखीं हों और स्वयं भी उनमें से गुज़रे हों, पर वह सब अनुभव डॉ. अंबेदकर की तरह 'आप बीती' के श्रेणी में नहीं आ सकता। ये स्थितियाँ उतनी भिन्नता पैदा नहीं करतीं। मूल्यांकन में सहायक हो सकती है।

गाँधी हिंदू हैं। अपने को सनातनी घोषित करते हैं। हिंदू होने के कारण भी और जन्मना भी। वे वर्णाश्रम व्यवस्था के अंग हैं। समर्थक भी। ऐसे में अस्पृश्यता के विरुद्ध उनका संघर्ष झूठा समझा जा सकता है। यह उन्हें 'प्रतिक्रियावादी', 'परंपरावादी', 'यथास्थितिवादी' बना देता है। हीरेन मुखर्जी ने अपनी पुस्तक *गाँधी : ए स्टडी* में उन्हें 'व्यावहारिक आदर्शवादी' (प्रेक्टिकल आइडिलिस्ट) 'दया का देवता' (एपोस्टल ऑफ पिटी) की संज्ञा दी है। डॉ. अंबेदकर उन्हें 'टोरी' या 'टोडी' बताते हैं। अगर वे हिंदुत्व को सांगोपांग अस्वीकार कर पाते तो हो सकता वे इन विशेषणों से बच जाते। तब उन्हें बौद्ध, इस्लाम या ईसाई धर्मों में से कोई एक अपनाना पड़ता। उस स्थिति में 'हिंदू समुदाय' के खिलाफ अस्पृश्यता को लेकर लड़ना कठिन क्या असंभव हो जाता। डॉ. अंबेदकर ने भी बौद्ध धर्म बहुत बाद में अपनाया। पाँच दशक के लगभग तो वे हिंदू धर्म में रहकर ही अस्पृश्यता के खिलाफ लिखते और लड़ते रहे। उसने उनके कथानक को प्रामाणिकता भी दी। वे ताल ठोक कर कह सके मैं जानता हूँ कि हिंदू अस्पृश्यों के प्रति कैसा व्यवहार करते हैं। वे कितने अमानवीय हैं। यदि वे शुरू से बौद्ध होते तो उनके लिए यह प्रामाणिकता अर्जित करना कठिन हो जाता। क्योंकि इन तीनों ही धर्मों में मूलरूप से अस्पृश्यता का कोई स्थान नहीं। व्यावहारिक रूप में भले ही हिंदुओं के प्रभाव के कारण छुआछूत संबंधी प्रदूषण उनमें भी आ गया हो।

गाँधी और अंबेदकर दोनों को हिंदू धर्म विरासत में मिला था। गाँधी सवर्ण थे उन्हें अंबेदकर की तरह हिंदू धर्म की गलाज़त से नहीं गुज़रना पड़ा था। लेकिन उस गलाज़त की पराकाष्ठा गाँधी ने दक्षिण अफ्रीका में भोग ली थी। अंबेदकर के लिए हिंदू धर्म एक दुःस्वप्न की तरह था। कोई भी संवेदनशील व्यक्ति किसी भी दुःस्वप्न को जल्दी से जल्दी भूल जाने की कोशिश करता है। कई बार उसमें ज़रूरत से ज़्यादा समय लग जाता है क्योंकि धर्म और मर्म छोड़ना आसान नहीं होता। यदि वह यथार्थ होता है तो इंसान लड़कर उसकी वास्तविक परिणति को पहुँचाने की कोशिश करता है। गाँधी और अंबेदकर दोनों के सामने अपनी–अपनी तरह अस्पृश्यता को उसकी अंतिम परिणति को पहुँचा देने की चुनौती थी। इस मुद्दे पर

दोनों अतिरिक्त रूप से संवेदनशील थे। गाँधी का भारतीय होना अपमानों, उपेक्षाओं और अस्पृश्यता की एक लम्बी शृंखला अपने साथ दक्षिण अफ्रीका ले गया था। संवेदना के ऊपर तो आघात होना स्वाभाविक ही था क्योंकि उनका भारतीय होना अपने आप में घोर अस्पृश्यता थी। साथ ही शारीरिक आघात भी कुछ ज़्यादा ही हुए। हो सकता था गाँधी के मन में उनसे बचने के लिए राष्ट्रीयता बदलने की बात आती परंतु ऐसा न होने के अपने कारण थे। मुख्य बात तो यह है कि जो राष्ट्रीयता बदल लेते हैं उनकी मूल राष्ट्रीयता उनके पहचान का हिस्सा पीढ़ी दर पीढ़ी बनी रहती है। अमेरिका जैसे आधुनिक राष्ट्र में भी दूसरे देशों के प्रवासियों की सामाजिक–राजनीतिक प्रतिष्ठा मूल राष्ट्र के आधार पर ही निर्धारित होती है। अफ़्रीकी देशों में ऐसे नागरिक तीन–तीन, चार–चार पीढ़ियों के बाद भी आक्रमणों के शिकार होते रहते हैं। 11 सितम्बर 2001 के बाद से अमेरिका में राष्ट्रीयता पाये भारतीयों और पाकिस्तानियों को सभ्य अमेरीकियों की हिंसक नाराज़गी का शिकार होना पड़ रहा है। कैसी विडम्बना है कि वहाँ के अधिकारिक नागरिक होने के बावजूद वे नागरिक नहीं हैं। कुछ कुछ ऐसी ही स्थिति भारत में ईसाईयों और मुसलमानों की होती जा रही है। सबसे बड़ी कठिनाई तो रंग और त्वचा की होती है। ज़बान तो बदल भी लो, उच्चारण भेद खोल देता है। त्वचा आदमी कैसे बदले? धर्म बदला जा सकता है। दक्षिण अफ्रीका में गाँधी ने इस बात को प्रत्यक्ष देखा था कि धर्म बदलना और अंग्रेज़ी सीख लेना भी भारतीयों को न गोरा बना पाया और न गोरों द्वारा स्वीकार्य। वे 'कुली' होने का दंश भोगते रहे। ईसाई बन जाने के बाद भी भारतीय मूल के नौजवानों को रंगभेद के कानून की ज़द से निकालने के लिए गाँधी को मुकदमे तक लड़ने पड़े थे।

यही नहीं गाँधी पर भी धर्म–परिवर्तन का दबाव था। प्रिटोरिया में गाँधी के सीनियर बैरिस्टर मि. बेकर, मिस हैरिस, मिस गैब आदि ईसाई धर्म के अनुयाइयों ने उन्हें धर्म–परिवर्तन के लिए प्रेरित ही नहीं किया बल्कि उनको एक विधर्मी होते हुए भी आत्मप्रकाश और आत्मशुद्धि के लिए 'प्रोटेस्टेंट्स' के वार्षिक समागम में वेलिंग्टन साथ ले गये थे। 'सेबथ डे' के दिन ईसाई धर्म में यात्रा निषद्ध मानी जाती

है। उन्हें एक होटल में रुकना पड़ा। सब गोरे थे, वे काले थे। उन्हें होटल के मैनेजर ने खाना देने और होटल में एक रात ठहराने से मना कर दिया था। फिर भी गाँधी को उनके प्रार्थनाभाव ने प्रभावित किया था। पर अंत में जब उनसे पूछा गया, आप हमारे 'आर्डर' में आना पसंद करेंगे? गाँधी ने साफ इंकार कर दिया था। यह बात उनकी पक्षधरता के लिए नहीं बल्कि जो स्थिति भारतीयों की थी उसमें धर्म–परिवर्तन अथवा राष्ट्रीयता–परिवर्तन उनकी दयनीय स्थिति में किसी तरह का अंतर नहीं ला सकते थे। स्वभावतः उनको पूर्व–निर्धारित सीमाओं में रहकर ही भारतीयों की अस्मिता की लड़ाई लड़नी थी। यही स्थिति हिंदू समाज में डॉ. अंबेदकर की थी। उन्हें भी गाँधी की तरह हिंदू रहकर हिंदुओं के अमानवीय पक्ष के विरुद्ध लड़ने के लिए अपने को तैयार करना पड़ा था। बाद में भले ही उन्होंने धर्म–परिवर्तन करके बौद्ध धर्म ग्रहण कर लिया हो। इस बारे में भी भिन्न मत है। भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला से प्रकाशित *दलित और अश्वेत साहित्य – कुछ विचार* (संपा. चमन लाल) पुस्तक में डॉ. अंबेदकर के बौद्ध धर्म में दीक्षित होने के संदर्भ में डॉ. धर्मवीर की एक टिप्पणी दर्ज है। डॉ. धर्मवीर ने उसमें दो बातों की ओर संकेत किया है ''. . . दलित चिंतन को सबसे पहला और भारी धक्का अढ़ाई हज़ार वर्ष पहले बुद्ध के चिंतन के रूप में लगा था। उस धक्के और धोखे से दलित चिंतन आज तक उभर नहीं सका है। उलटे डॉ. अंबेदकर के रूप में वह इस धोखे में फँसता ही जा रहा है। इस दलदल से निकलने का उसके पास अभी कोई पक्का और मुकम्मिल उपाय नहीं।'' (पृ. 59–60) दूसरी टिप्पणी पृ. 65 पर है'' . . . बौद्ध धर्म में या अन्य किसी धर्म में कितना भी बचता फिरे लेकिन एक दिन उसे यह लड़ाई अपनी रीढ़ पर सीधे खड़े होकर अंतिम रूप से खुद लड़नी पड़ेगी।'' उनकी यह बात एक सीमा तक सही है। गाँधी ने भी दक्षिण अफ्रीका और भारत में अस्पृश्यता के खिलाफ लड़ाई अकेले अपनी रीढ़ पर खड़े होकर लड़ी थी। अंबेदकर ने भी यह लड़ाई स्वयं ही लड़ी। उन्होंने धर्म–परिवर्तन लड़ाई से बचने के लिए नहीं किया था बल्कि आंतरिक तकलीफ से मुक्ति के लिए किया होगा। डॉ. धर्मवीर का संकेत शायद इस तरफ

है कि आज बौद्ध बन जाना यानी हिंदू धर्म का बहिष्कार कर देना ही लड़ाई के अंत का स्वरूप बन गया है। यह राजनीतिक स्वरूप भी ले सकता है। जैसे पार्टियाँ बदली जाती हैं, वही बात धर्मों पर लागू हो सकती है। यह संभव है कि किसी स्तर पर धर्म–परिवर्तन 'पोलिटिकल एम्पावरमेंट' का माध्यम बन जाये।

गाँधी के सामने भी यही चुनौती थी। जैसा कि ऊपर संकेत किया गया, गाँधी को अस्पृश्यता के विरुद्ध जंग का बिगुल अकेले बजाना पड़ा था। उस लड़ाई के दौरान उन्हें अपनी रणनीति बराबर बदलते रहनी पड़ी थी। उसके कारण वे गलतफहमी के शिकार भी बने। अछूतोद्धार की इस लड़ाई में उनके सामने आज़ादी की लड़ाई से अधिक विषम चुनौतियाँ थीं। आज़ादी की लड़ाई में एक निश्चित शत्रु सामने था, जो बाहरी था और पूरा देश उनके साथ था। अस्पृश्यता की लड़ाई एक तरह से उनकी निजी लड़ाई थी। सवर्णों में से, इस लड़ाई को राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक स्तर पर इतनी शिद्दत से लड़ने वाले इस ज़माने के वे पहले व्यक्ति थे। क्योंकि डॉ. अंबेदकर ने उन्हें वाल्टेयर मानने से इंकार किया है तो मैं उन्हें वाल्टेयर नहीं कहूँगा। पर इस लड़ाई में वे ही सिपाही थे और वे ही सेनापति। उनके शत्रु अंदर के थे; उनके अपने थे यानी सवर्ण। दक्षिण अफ्रीका में स्थिति यहाँ से बेहतर थी। वहाँ उनके पीछे असंबद्ध भारतीय व्यवसायियों का एक समुदाय था। भले ही वह पहले आत्मकेंद्रित रहा हो। वह यह भी जानते थे कि मताधिकार की वह लड़ाई जिसे वे भारतीय व्यवसायियों की सहायता से लड़ रहे हैं, जनहित की लड़ाई नहीं है, बल्कि व्यावसायिक दृष्टि से अपनी स्थिति मज़बूत करने के लिए वे लोग उनके साथ हैं। गाँधी का उद्देश्य उस लड़ाई को भारतीयों की ही नहीं बल्कि एशियाइयों के सामूहिक हित की लड़ाई बनाना था। ब्रिटिश साम्राज्य के खिलाफ चंद लोगों को साथ लेकर, लड़ाई लड़ना संभव ही नहीं था। वे भारत में उसकी प्रजा थे। सबको एक मंच पर लाने के लिए सबसे पहले व्यवसायियों के साथ 'नेटाल इंडियन कांग्रेस' बनायी। फिर उसमें नौकरी–पेशा, अध्यापक, छात्र आदि भारतीयों को लिया। अंत में गिरमिटियाओं को उससे जोड़ा। वे जानते थे कि अगर शिराज़ा

डूबने लगेगा तो ये गिरमिटिया कहे जाने वाले ही उसे पार लगायेंगे।

दक्षिण अफ़्रीका से भारत लौटने पर गाँधी की स्थिति हाशिये पर लिखी इबारत से ज़्यादा नहीं थी। यह बात अलग है कि दक्षिण अफ्रीका में उनकी रचनात्मक व परिवर्तनोन्मुखी भूमिका के कारण यहाँ भी लोग उन्हें जान गये थे। चार वर्ष उन्होंने एक सामान्य कार्यकर्ता के रूप में देश को जाना था और अस्पृश्यता के विरुद्ध जाग्रति लाने का प्रयत्न किया था। भारत में अस्पृश्यता रंग–आधारित न होकर धर्म–प्रेरित थी। रंग जितना भौतिक था उतनी ही यह अस्पृश्यता सूक्ष्म और गहरी थी। 1885 से 1917 तक कांग्रेस सामाजिक प्रश्नों पर बात करने से बचती थी। दादा भाई नौरोजी जैसे सुधारवादी और बौद्धिक नेता ने 1886 में कांग्रेस सेशन के दौरान कहा था कि ''कांग्रेस एक राजनीतिक संस्था है। उसका काम अपने शासकों को अपनी राजनीतिक आकांक्षाओं से अवगत कराना है, समाज सुधारों पर चर्चा करना नहीं।'' 1917 में जब कांग्रेस को जनसमर्थन की ज़रूरत महसूस हुई तो स्थिति बदली। 1920 में असहयोग आंदोलन पर एक प्रस्ताव पास हुआ जो गाँधी द्वारा तैयार किया गया था। उसके अंतिम पैरा में अस्पृश्यता समाप्त किये जाने को आज़ादी के आंदोलन का अभिन्न हिस्सा घोषित किया गया था। 1922 में कांग्रेस ने रचनात्मक कार्यक्रम तैयार किया। उस कार्यक्रम का मुख्य अंग था पिछड़े वर्ग की सामाजिक, मानसिक, आर्थिक और नैतिक स्थितियों को सुधारना। उनके बच्चों को राष्ट्रीय स्कूलों में भेजकर पढ़ाना। जीवनयापन की सामान्य स्थितियाँ उपलब्ध कराना। उसके लिए 'तिलक निधि' से धन भी उपलब्ध कराया गया था। कांग्रेस या गाँधी जी ने अस्पृश्यता उन्मूलन के संदर्भ में कुछ किया हो या नहीं, यह बात अलग है, क्योंकि इस सवाल पर वस्तुपरक निर्णय लिए जाने में समय लगेगा। लेकिन यह अवश्य है कि गाँधी ने देश और कांग्रेस के बौद्धिक चरित्र को झकझोर दिया था। कांग्रेस द्वारा राजनीतिक आकांक्षाओं की पूर्ति के बारे में सत्ता को प्रत्यावेदन देने वाले चरित्र को बदलकर निम्नतम स्तर से जोड़ने और सामाजिक चेतना पैदा करने की सार्थक कोशिश की गई थी। उसमें वे सफल भी हुए। उससे पूर्व दलित समस्या कांग्रेस की चिंतन

और व्यवहार की परिधि से बाहर थी। डॉ. अंबेदकर के अनुसार वह एक हिंदू पार्टी थी। जिन्ना का भी, कांग्रेस छोड़ देने के बाद यही मत बन गया था। उस कांग्रेस के बौद्धिक चरित्र को बदलकर उसे जड़ों से जोड़ना भले ही बहुत बड़ी बात न लगे पर ऐसा भी नहीं कि यह काम चुटकी बजाते ही हो गया हो। एक ब्राह्मण बहुल संस्था में घुसकर परिवर्तन का बिगुल बजाने को एक छोटी–मोटी क्रांति की तरह देखा जा सकता है। यथास्थितिवाद तो तब होता जब गाँधी अकेले दम पर कांग्रेस के बुर्जुआ या कुलीन (बुर्जुआ शब्द हालाँकि मार्क्सवाद की थाती है) चरित्र को बदलने की पहल न करते और बुद्धिजीवियों के उस जलसे में दलितों को न घुसाते। परिवर्तन का यह ढंग वे दक्षिण अफ़्रीका से सीखकर आये थे।

यह संदर्भ पहले भी आ चुका है कि गाँधी दक्षिण अफ़्रीका में अपने को नास्तिक बता चुके थे। वे ईसाई धर्म से प्रभावित थे। भारत आने पर उन्होंने समाज सुधारक के रूप में ईसाई धर्म के उद्धरण देकर हिंदुओं को अपने आप को बदलने की प्रेरणा दी। उसका खमियाज़ा भी उन्हें भुगतना पड़ा। सनातनियों ने गाँधी को ईसाइयत से प्रभावित होने के आधार पर हिंदू ग्रंथों के बारे में बोलने के अधिकार से वंचित करने के लिए प्रचार का स्वाँग भी रचा था। यह वैयक्कम विमर्श के बाद ज़्यादा हुआ। भिखू पारिख ने अपनी पुस्तक *कोलॉनियलिज़्म : ट्रेडिशन ऐंड रिफॉर्म* में लिखा है कि वैयक्कम में अस्पृश्यता के मुद्दे पर हुए शास्त्रार्थ के नतीजे ने उन्हें अशांत कर दिया था। वहाँ के ब्राह्मणों ने उनके तीनों प्रस्तावों को मानने से इंकार कर दिया था। तीन प्रस्ताव थे – 1. उस क्षेत्र के जातीय हिंदुओं के द्वारा सत्याग्रह के प्रश्न पर 'रेफ़रेंडम' यानी रायशुमारी 2. तीन व्यक्तियों द्वारा मध्यस्थता, जिनमें दो ब्राह्मण हों, 3. मद्रास या बनारस के विद्वान पंडितों द्वारा संदर्भित ग्रंथों के संदर्भ में धर्म–विधान दृष्टि से जाँच। उस घटना के बाद गाँधी के सामने दो ही विकल्प थे। वे कुंठित होकर अस्पृश्यता के प्रश्न को हमेशा के लिए भूल जायें और ईसाई धर्म के प्रभाव के साथ अपने समाज सुधार के कार्यक्रम पर कायम रहें। दूसरा था कि वे अपनी रणनीति बदलकर अस्पृश्यता को मिटाने के लिए संघर्ष को आगे बढ़ायें। आज़ादी की लड़ाई राष्ट्रीय हित

का मुद्दा था तो अस्पृश्यता का सवाल उनकी व्यक्तिगत संवेदना और उनके अपने 'स्वराज' से जुड़ा था। दक्षिण अफ़्रीका में उन्होंने इस स्थिति का सामना किया था। पीटरमैरिट्जबर्ग के स्टेशन पर रात को ठंड में सिकुड़ते हुए मैदान छोड़कर भाग जाने के विकल्प को अस्वीकार करके संघर्ष अपनाया था। स्वाभाविक है कि यहाँ भी पहला विकल्प उनके लिए अस्वीकार्य और अप्रासंगिक था। जिस बात का डॉ. अंबेदकर ने उल्लेख किया है कि पहले भी संत अस्पृश्यता को दूर करने की दिशा में प्रयत्न कर चुके थे। इस बात को गाँधी भी जानते ही होंगे। फिर भी क्या वे अपनी मूल रणनीति पर कायम रहकर ही परिवर्तन का आगाज़ कर सकते थे? गाँधी ने सुरक्षित विकल्प अपनाने की जगह संघर्ष का विकल्प चुनना उचित समझा था। उसके लिए उन्होंने अपने आपको सनातनी घोषित किया और हिंदू धर्म को अपने जीवन से अधिक महत्त्वपूर्ण माना। हिंदू धर्म को जीवन से अधिक करार देने के बाद न तो उनका नास्तिक होना प्रासंगिक रहा था और न ईसाई धर्म का सुधारवाद कोई महत्त्व रखता था। वे जान गये थे कि ब्राह्मण अपने आप में इतने संतुष्ट हैं कि वे किसी दूसरे धर्म की अच्छी बात भी जानने और मानने से गुरेज़ करेंगे। सीखना तो दूर की बात है। सनातनी बनकर वे अपनी स्थिति अक्षुण्ण रख सकते थे। यही बात उन्हें एक वर्ग–विशेष के लिए अब तक खलनायक बनाये हुए है। दूसरा सवाल है कि अगर वे सनातनी हो गये थे तो सनातनी बने रहते। उस स्थिति में उनके बारे में डॉ. अंबेदकर का यह कथन सही हो जाता कि हर हिंदू टोरी है और गाँधी उनसे अलग नहीं। ज़रा–सा खुरच कर देखो उनकी रगों में वही रक्त बहता हुआ मिलेगा। सच पूछिये तो वे न सनातनी हिंदू थे और न नास्तिक। अपने को सनातनी घोषित करने के बावजूद वे हिंदू धर्म की मान्यताओं से खिलवाड़ करते रहे। इस बात को जातीय हिंदू समझ रहे थे और विरोध कर रहे थे जबकि अंबेदकर उन्हें उसी कट्टरवादी वर्ग का हिस्सा मान रहे थे।

वैयक्कम में पंडित नम्बियातारी द्वारा पूछे गये इस सवाल का जवाब कि क्या आप हिंदू शास्त्रों की दिव्यता को मानते हैं, सकारात्मक दिया। लेकिन उन्होंने वेदों को अपौरुषेय मानने से हमेशा इंकार

किया। कुरान और बाइबिल को भी वे दक्षिण अफ़्रीका में खुदाई मानने से इंकार कर चुके थे। उन्होंने उन लोगों के इस प्रश्न का भी नकारात्मक उत्तर दिया कि अछूत होने के कारण उन्हें दंडित करने का शास्त्रों में कोई प्रावधान है। गाँधी ने अछूतों के लिए कुछ किया या नहीं, किया तो कितना किया, उस से उनको कितना लाभ हुआ और हिंदुओं की कितनी हानि, ये प्रश्न भले ही कितने भी प्रासंगिक हों, यह समझना ज़रूरी है कि गाँधी अस्पृश्यता के विरुद्ध संघर्ष के प्रति गंभीर (प्रतिबद्ध शब्द का जानकर प्रयोग नहीं किया जा रहा) थे या नहीं, और थे तो कितना? यह सही है कि हर प्रयत्न की सफलता गंभीरता के पैमाने से न नापकर उससे मिलने वाले नतीजे से आँकी जाती है। अस्पृश्यता के प्रति गाँधी की प्रतिबद्धता क्या तभी मानी जानी चाहिये थी यदि वे हिंदू धर्मांधता के विरोध में हिंदू धर्म को छोड़कर किसी दूसरे धर्म में चले जाते? डॉ. अंबेदकर तक के लिए एकदम से हिंदू धर्म को छोड़ना संभव नहीं हुआ था। हिंदू धर्म छोड़ने से पूर्व उन्होंने स्थितियों को समझा। इस निर्णय तक पहुँचने में लगभग पूरा जीवन लग गया। वे भी हिंदुत्व के मूलभूत सिद्धान्तों से असहमत नहीं थे। परंतु वे उन सिद्धान्तों को सामाजिक जीवन में न उतार पाने के कारण हिंदू धर्म में बने रहना कठिन मानते थे। बौद्ध धर्म से भी वे उतने सहमत नहीं थे इसीलिए उन्होंने नव–बौद्धों के लिए अपना शपथपत्र बनाया। और उसे बौद्ध धर्म ने स्वीकार किया। शायद इसीलिए डॉ. धर्मवीर ने अपने उक्त संदर्भित लेख में पृ. 60 पर लिखा है कि 'दलित समाज बौद्ध धर्म का ऋणी नहीं बल्कि बौद्ध धर्म दलित समाज का ऋणि है क्योंकि दलितों ने बीसवीं शताब्दी का अपना सबसे महान चिंतक उसे दे दिया।'' दलित समाज ने डॉ. अंबेदकर को उन्हें दिया या अंबेदकर दलित समाज को बौद्ध धर्म को दे रहे हैं? उसी पृष्ठ पर डॉ. धर्मवीर का कथन है, ''डॉ. अंबेदकर के रूप में वह (दलित चिंतन बौद्ध चिंतन के) धोखे में फँसता ही जा रहा है।''

जहाँ तक गाँधी का प्रश्न है यह तो मानकर चलना ही चाहिये कि गाँधी हिंदू धर्म को न नकार सकते थे और न छोड़ सकते थे। यह उनकी मानसिकता के भी खिलाफ था और उद्देश्य के साथ भी नहीं

जाता था। उनका पूरा प्रयत्न था कि हिंदू धर्म के बंद हो चुके परंतु प्राचीन और विस्तृत भवन में वे इतने सुराख कर दें, सभ्य भाषा में कहा जाय तो इतनी खिड़कियाँ खोल दें, कि जितनी दुर्गंध अंदर भर चुकी है वह बाहर निकल जाय। दरअसल अपने को 'भंगी' कहने के नाते उनका यह प्रथम कर्तव्य होना ही चाहिए था। वह दुर्गंध उसी दुर्व्यवहार के कारण थी जिसके तहत अपने ही समाज के एक इतने बड़े वर्ग की स्वतंत्रता को धर्म के नाम पर अस्पृश्यता के कठघरे में क़ैद किया हुआ था। सवर्ण स्वयं खुले वातावरण में तैरता अनुभव करता था क्योंकि उस दुर्गंध का वह एक नशेड़ी की भाँति आदी हो चुका था। हालाँकि गाँधी के ऊपर आरोप है कि वे हिंदू धर्म और समाज को बचाने के लिए अस्पृश्यता के नाम पर दलित समाज को बरगला रहे थे। यही सही हो सकता है क्योंकि वे हिंदू धर्म के शत्रु नहीं थे। उन्होंने उसे अपने जीवन से ज़्यादा महत्त्व देने की घोषणा की थी। वे उसे उन बुराइयों से मुक्त करना चाहते थे जिनके कारण हिंदू धर्म के अस्तित्व को वे संकट में मानते थे। बिस्मार होते भवन के साथ दो ही तरह का व्यवहार किया जा सकता है, या तो उसे एक और धक्का देकर गिरा दिया जाये या फिर उसकी कमज़ोरी को दूर करके उसे बेहतर बना लिया जाय। यदि कोई भवन गिरने की स्थिति से ऊपर हो तो उसे सुधारना ही श्रेयस्कर होता है। यह बात सही है कि वे हिंदू समाज को बचाना चाहते थे लेकिन अस्पृश्यता को संरक्षण देकर नहीं। उसे वे कोढ़ मानते थे। यह बात गाँधी के पक्ष में भी देखी जा सकती है और उनके विरुद्ध भी पढ़ी जा सकती है। वाल्टेयर ने भी चर्च को छोड़ा नहीं था उसकी कमियों के खिलाफ आवाज़ उठायी थी। उनका उद्देश्य शायद खेत को बचाना था। एक किसान की तरह अस्पृश्यता और अन्य बुराइयों की खरपतवार को बीन कर साफ करना चाहते थे जिसकी वजह से पूरी फसल विषाक्त होती जा रही थी। शायद किसी ने सोचा और समझा ही नहीं कि गेहूँ की बाल झुककर अपनी जड़ को चर भी सकती है। यही हुआ था। अस्पृश्य तो दारुण दुख झेल ही रहे थे परंतु समझने की बात यह थी कि वह अस्पृश्यता सवर्णों की जड़ों को चाट रही थी। अंधविश्वास, जातिगत घृणा, श्रेष्ठता का अहंकार, धर्म का पाखंड, कर्मकांड का

विष जिसे खाद समझा जा रहा था, सम्पूर्ण संस्कृति को विषाक्त किये दे रहा था। इसे गाँधी ने समझा। अंबेदकर ने भी समझा। परंतु दोनों की दृष्टि अलग–अलग थी। गाँधी उसे अपनी और हिंदू समाज की ज़िम्मेदारी समझते थे कि खेत से ज़हरीली खरपतवार साफ करें। गाँधी का हिंदू होना तब भी आलोचना का कारण था और आज भी है। हम महात्मा फुले के बारे में यह भूल जाते हैं कि उन्होंने भी अपने वर्ण, धर्म और समाज में रहकर अस्पृश्यता का विरोध किया था। डॉ. अंबेदकर ज़्यादा 'रेडिकल' थे। उन्होंने निर्वाण से पूर्व हिंदू धर्म का भार अपने कंधों से उतारकर, उसके प्रति अपने दायित्वों से मुक्ति पा ली थी। उनका यह संकल्प था जो उन्होंने पूरा किया। वे हिंदू के रूप में नहीं मरे। वे दलित वर्ग की मुक्ति के लिए स्वतंत्र हो गये थे। अपने आपको विकल्प विहीन कर लिया था। उन्हीं के लिए जीना, सोचना और करना था।

गाँधी जहाँ अस्पृश्यता के विरुद्ध लड़ाई लड़ रहे थे वहीं उनके सामने और भी ज़िम्मेदारियाँ थीं। पूछा जा सकता था क्यों थीं? किसी ने थोपा तो नहीं था? उन्होंने स्वयं ही चुना था। अस्पृश्यता के विरुद्ध खड़े होने के कारण जो हिंदू समाज आज़ादी की लड़ाई में उनके साथ था वही अछूतोद्धार में उनके विरुद्ध खड़ा था। यह विचित्र विरोधाभास था। शायद इसलिए कि आज़ादी की लड़ाई में उनका धार्मिक हित सुरक्षित था। अस्पृश्यता का सवाल आते ही वह संकट में पड़ जाता था। गाँधी की यह लड़ाई और कठिन हो जाती थी। इस पूरे संदर्भ को समझने के लिए गाँधी के चरित्र को समझना ज़रूरी हो जाता है। गाँधी 'नाविक' के उस बेटे की तरह जलते 'डैक' पर खड़े थे जिसका पिता उसे वहाँ खड़े रहने का आदेश देकर चला गया था। विरोध और अपमान के गोले उन पर लगातार बरस रहे थे। वे उन्हें हताश नहीं कर रहे थे बल्कि मुस्तैदी में दृढ़ता ला रहे थे। गाँधी के इस पूरे संघर्ष के बारे में शायद इस तरह सोचा ही नहीं गया कि गाँधी सनातनी हिंदू बने रहकर अपनी दिशा और रणनीति बदल–बदल कर 'टारपीडो' की तरह अंदर से तोड़–फोड़ कर रहे थे। उनके आक्रमण का स्वरूप वह नहीं था जो अंबेदकर या अन्य लोगों का था। दो महान व्यक्तियों की कार्यविधि कभी एक

नहीं होती, भले ही उद्देश्य एक हों। अस्पृश्यता की समस्या गाँधी के लिए उस सख्त छिलके वाले बादाम की तरह हो गई थी जिसे दाँत से भी तोड़ना संभव नहीं रहा था। वे परस्पर विरोधी पराकाष्ठाओं के बीच फँसे थे। एक तरफ हिंदू कट्टरवाद और दूसरी तरफ अस्पृश्यता का भयंकर अभिशाप। लुईस फिशर ने *द लाइफ ऑफ महात्मा गाँधी* में पृ. 181 पर लिखा है –

Untouchability is segregation gone mad. Theoretically a device against contamination, it actually contaminates the country that allows it.

गाँधी की ही चेतना से संभवतः लुईस फ़िशर का यह वाक्य निकला हो। सच बात तो यह है कि उन्होंने यह लड़ाई दलितों और गैर–दलितों, दोनों के लिए लड़ी। दलितों के सम्मान के लिए और गैर–दलितों की आत्मशुद्धि के लिए। मज़े की बात यह है कि गैर–दलितों को शुद्ध होने का गुमान था जब कि उन्हें अपनी मनोग्रंथियों से शुद्ध और मुक्त होना था। इसीलिए गाँधी के सामने इन दोनों स्थितियों के बीच संतुलन बनाकर चलना था। इस संदर्भ में अज्ञेय की 'नाच' कविता का उल्लेख करना गैर–वाजिब नहीं होगा। शायद गाँधी की स्थिति को थोड़ा–बहुत समझने में मदद मिले –

एक तनी हुई रस्सी है जिस पर मैं नाचता हूँ।
सि तनी हुई रस्सी पर मैं नाचता हूँ
वह दो खम्भों के बीच है।

लोग मेरा नाच देखते हैं
न मुझे देखते हैं जो नाचता है
न रस्सी को जिस पर मैं नाचता हूँ
न खम्भों को जिस पर रस्सी तनी है
न रोशनी को ही जिस में नाच दीखता है
लोग सिर्फ नाच देखते हैं।

मैं केवल उस खम्भे से इस खम्भे तक दौड़ता हूँ
कि इस या उस खम्भे से रस्सी खोल दूँ

कि तनाव चुके और ढील में मुझे छुट्टी मिले
पर तनाव ढीलता नहीं

पर तनाव वैसा ही बना रहता है।

(सदानीरा, 2, पृ. 331)

गाँधी भी चले गये ओर अंबेदकर भी, तनाव बदस्तूर है। बल्कि बढ़ा ही है। मैं न अज्ञेय को देख रहा हूँ न उन दोनों खंभों को, न गाँधी को। अस्पृश्यता की रस्सी के उस तनाव को देख रहा हूँ जो दलितों के संत्रास और गैर–दलितों के द्वारा उत्पीड़न के खंभों के बीच बँधे होने के कारण ढील नहीं पा रही। गाँधी उस रस्सी को गैर दलितों के उत्पीड़न वाले खंभे से खोलने के लिए दौड़ते रहे।

गाँधी पर यह आरोप है कि उन्होनें दलितों को हिंदुओं की निरंकुशता के खिलाफ लड़ने के लिए प्रेरित नहीं किया। हम यह भूल जाते हैं कि अगर गाँधी और अंबेदकर दोनों एक ही खम्भे पर ज़ोर लगाते तो लड़ाई एकतरफ़ा हो जाती। हो सकता है खंभा ही संकट में पड़ जाता। एकतरफा लड़ाई का कभी कोई नतीजा नहीं होता। *महाभारत* में शल्य द्वारा रथासीन महारथी को हतप्रभ और निस्तेज करने की भी अहम भूमिका थी। लेकिन ख़ैर, इन उद्धरणों का कोई अर्थ नहीं। इन्हें मनुवादी मानकर अस्वीकार किया जा सकता है। भले ही *महाभारत* एक दलित द्वारा लिखी गई हो।

डॉ. अंबेदकर का मन्तव्य था कि आज़ादी से पूर्व अस्पृश्यता का सवाल सुलझाया जाय। यह बात अलग है कि अंबेदकर स्वयं जानते थे कि इस मसले को सुलझाने का बुद्ध के ज़माने से प्रयत्न हो रहा है। लेकिन उनका यह सोचना शायद इसलिए वाजिब था कि भले ही अंग्रेज़ों ने भी दलितों का साथ न दिया हो पर वे तीसरी पार्टी थे और उनकी भारत में बने रहने में रुचि भी थी, इसलिए यह संभव था कि उनके दबाव में या कानून के द्वारा या अन्य किसी रूप में इस समस्या का समाधान हो जाय। 4 अक्तूबर 2001 के 'अमर उजाला' में हिमाचल प्रदेश के राज्यपाल का वक्तव्य छपा था कि केवल कानून से इस समस्या का समाधान नहीं निकल पायेगा।

गाँधी का कहना था कि कानून के साथ हृदय परिवर्तन भी ज़रूरी है। आज़ादी की लड़ाई के प्रश्न पर डॉ. अंबेदकर ने सवाल किया था क्या वे (गाँधी) देश की आज़ादी दलितों पर हिंदुओं की निरंकुशता को मज़बूत करने के लिए प्राप्त करना चाहते हैं या उनको उनके दमन से मुक्त करने के लिए? इस सवाल का जवाब डॉ. अंबेदकर के हिसाब से 'हाँ' होना चाहिये था और गाँधी के नज़रिये से 'ना'। गाँधी सवर्णों को ही अस्पृश्यता के लिए ज़िम्मेदार मानते रहे। इस पाप के उन्मूलन की ज़िम्मेदारी वे उन पर इसलिए डालते थे कि हिंदू ज़िम्मेदार हैं तो वे ही उस ज़िम्मेदारी को निभायें भी। अगर गाँधी दलितों को ज़िम्मेदार मानकर कहते कि आप इसे दूर करो तो भी यही कहा जाता कि जिन्होंने सताया, उन्हें बचाया। जो सताये गये उनसे कहा कि तुम अस्पृश्यता को दूर करेा। वैसे भी वह गृहयुद्ध की स्थिति होती। उसे गाँधी तो चाहते ही नहीं थे, डॉ. अंबेदकर भी नहीं चाहते थे।

*स्टडीज़ इन गाँधीज्म में निर्मल बोस ने गाँ*धी के स्वभाव के बारे में टिप्पणी की है जिसका आशय है कि उनमें एक तरह का ज़िद्दीपन था। वे किसी भी कार्यान्वयन से पूर्व उसके विस्तार में जाते थे। जो सम्यक और उच्चस्तरीय होता था। अगर दूसरे लोग मुख्य मुद्दों पर उनसे ईमानदारी पूर्वक असहमत होते थे तो वे अपने रास्ते चलने की स्वतंत्रता की अपेक्षा रखते थे। यही आज़ादी वे उनको भी देते थे जो उनसे (गाँधी से) असहमत होते थे। यह टिप्पणी एक तरह से गाँधी और अंबेदकर के पारस्परिक संबंधों को भी व्याख्यायित करती है। उन्होंने डॉ. अंबेदकर के निर्णयों और कार्यों पर न्यूनतम टिप्पणियाँ की हैं। एक अपवाद तो जगज़ाहिर है – 'कम्यूनल एवार्ड' के संदर्भ में हुई गोलमेज़ बैठक। उसके विरोध में भी तर्क हैं और पक्ष में भी। यही कारण था कि गाँधी ने अनेक सवर्णीय आक्रमणों के बावजूद अपनी इस मूल मान्यता को नहीं बदला, ''मैं इस परंपरा (अस्पृश्यता) को अपनी आत्मा से घृणित मानता हूँ जिसने हिंदुओं की इतनी बड़ी संख्या को जानवरों से भी बदतर बना दिया . . . जिस सड़क को वे साफ करते हैं और अपने माथे का पसीना चुआते हैं वे उस पर चल नहीं सकते। दूसरों की तरह कपड़े नहीं पहन सकते। हमने

ही उनका अवमूल्यन किया और हम ही उस अवमूल्यन को उनकी उन्नति के खिलाफ इस्तेमाल करने का दुस्साहस करते हैं।'' यह बात उन्होंने 12 जून 1924 के 'यंग इंडिया' में लिखी थी। आरक्षण का यह सबसे पक्षधर वक्तव्य है। जिस बात के लिए हम स्वयं ज़िम्मेदार हैं उसका आधार लेकर किसी दूसरे को दौड़ से बाहर कैसे कर सकते हैं।

डॉ. अंबेदकर ने कहा था कि अन्य पिछड़े वर्ग के साथ दलितों की जंज़ीरें तोड़कर उन्हें स्वतंत्र करना सारे विश्व का दायित्व है। गाँधी ने उस दायित्व को हिंदुओं तक सीमित कर दिया था। विश्व के मुकाबले हिंदू एक सीमित समुदाय था जिसे ज़िम्मेदार ठहराया जा सकता था। शुद्धिकरण की आवश्यकता अस्पृश्यों को नहीं थी, तथाकथित उच्च जातियों को थी। गाँधी का यह कथन, यह वाक्य प्रकारांतर से आर्य समाज के शुद्धिकरण आंदोलन पर भी आक्षेप है। जब हिंदू हैं तो शुद्धिकरण कैसा? अस्पृश्यता के ज़िम्मेदार तो तुम हो, इस तौक को तुम्हें अपने ऊपर से हटाना है। तालाब को गंदा तुमने किया, दोष मछलियों पर लगाते हो।

. . . 'हिंदू' गाँधी : दो

गाँधी ने हिंदू और वह भी सनातनी बने रहकर अस्पृश्यता के मुद्दे पर हिंदुओं को सुधारने या परास्त करने के जो तरीके अपनाये वे गाँधी को 'उन' हिंदुओं से अलग खड़ा करते हैं बकौल अंबेदकर, जिनका रक्त उस टोरी हिंदू का था और जिन्हें वे अस्पृश्यता का ज़िम्मेदार हिंदुत्व का हिस्सा मानते थे। वैयक्कम में पंडितों द्वारा पूछे गये प्रश्नों से सनातन धर्म की एक परिभाषा संगठित होती है – हिंदू वे हैं जो शास्त्रों (वेदों) की अलौकिकता पर विश्वास करते हों, कर्मफल के सिद्धांत को मानते हों, पुनर्जन्म में विश्वास करते हों। लेकिन भिखू पारिख की पुस्तक *कालोनियलिज़्म, ट्रेडिशन ऐंड रिफॉर्म* के पृ. 225 के अनुसार गाँधी के द्वारा सनातन धर्म की व्याख्या अलग है – ''सनातन धर्म का पालन करने वाला सनातनी है।'' सनातन धर्म क्या है? वे बताते हैं, ''महाभारत के अनुसार उसका अर्थ है अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह, शुचिता और आत्मसंयम।'' इस परिभाषा में वह कुछ नहीं जिसे परंपरागत रूप से सनातन धर्म का अंग माना जाता है। सनातन धर्म की यह परिभाषा सर्वमान्य है। इसे न बौद्ध अस्वीकार कर सकते हैं, न मुसलमान, और न ईसाई। इस परिभाषा को गाँधी व्यवहार में लाने का दावा करते हैं, और सनातनी हैं। इस परिभाषा के ज़रिये एक सनातनी को, परंपरागत तरह का धर्मावलंबी न बनाये रखकर उन सामाजिक तत्त्वों से भी जोड़ा गया है जो सर्वमान्य हैं। इस परिभाषा में सामाजिक विवेचना की यानी 'क्रिटीक' बने रहने की गुंजायश है। मनुष्य अपने चरित्र का लगातार परीक्षण करता रह सकता है। मूल परिभाषाओं को अपनी तरह से संशोधित करने और शास्त्रों की दिव्यता पर प्रश्नचिन्ह लगाने के कारण धार्मिक

कट्टरवादियों का उनके खिलाफ हो जाना अस्वाभाविक नहीं। अपने को सनातनी कहना दलितों को नाराज़ करता है और हिंदुओं के कट्टरपन में छिद्र करने के फलस्वरूप हिंदुओं को हाहाकारी बनाता है। 26 जनवरी 1924 को गाँधी ने 'यंग इंडिया' में लिखा कि ''हम 'उसके' बंदे हैं, धूल के कण से ज़्यादा कुछ नहीं। हम नम्रता बरतें और निम्न से निम्नतर प्राणी को उसका सम्मानजनक स्थान दें।'' उनके इस कथन में हिंदू मान्यताओं से काफी अलग जाकर सार्वभौमिकता का गहरा समन्वय है।

गाँधी के खिलाफ़ सबसे बड़ा आरोप है वे जातीय प्रथा और वर्णाश्रम के सिद्धान्त में विश्वास करते थे। इस बात का विवेचन तो हो सकता है पर उसे पूर्णतया नकारा नहीं जा सकता। डॉ. अंबेदकर ने माना है कि वे जाति–प्रथा पर अपने स्टैंड को छोड़ देंगे तो उनकी राजनीतिक स्थिति डावाँडोल हो जायेगी। गाँधी का एक उद्धरण शायद इस कथन को कुछ स्पष्ट कर सके। *गाँधी वाङ्मय* के 19वें खंड के 288.90 पृ. पर कहा गया है : ''आप लोग यह सोचकर मेरे साथ अन्याय कर रहे हैं कि मैं दूसरे मुद्दों के मुकाबले इस सवाल को एक क्षण के लिए भी कम करके देख रहा हूँ। यह सवाल स्वतंत्रता पाने से भी ज़्यादा महत्त्वपूर्ण है . . . .।'' उनके इस कथन पर किसने कितना विश्वास किया या कितना नहीं, यह बात अलग है। एक दूसरा पक्ष भी है। गाँधी के लिए यह संभव नहीं था कि वे अपने को सनातनी भी कहते रहें तथा वर्णाश्रम और जातिवाद को भी जड़ से नकार दें। कई बार लगता है कि गाँधी का वर्णाश्रम को मानना, अंत्यजों और अस्पृश्यता के संदर्भ में उनकी निम्नलिखित मान्यता शायद विश्वसनीय न लगती हो – ''यह (वर्णाश्रम) धर्म की रक्षा नहीं करता, घुटन पैदा करता है'', या ''इसके पीछे अज्ञान या क्रूरता है'', तथा अंत्यजों को अस्पृश्य मानना ''बहिष्कार का क्रूरतम ढंग है।'' दोनों बातें कैसे चल सकती हैं?

19 जनवरी 1921 को उन्होंने 'यंग इंडिया' में लिखा था, ''अस्पृश्यता धर्म की स्वीकृति नहीं बल्कि शैतान की चाल है। शैतान हमेशा धर्मग्रंथों से उद्धरण देता है। धर्मग्रंथ सत्य और तर्क से ऊपर नहीं. . . .।'' गाँधी ने वैयक्कम में धर्म और धर्मग्रंथों की दुहाई सुनी

थीं। उन्हें वहाँ से दुखी होकर लौटना पड़ा था। धर्मग्रंथों से दिये गये उद्धरणों के साथ अस्पृश्यता के मुद्दे पर गाली–गलौज भरे पत्र भी आते थे। वे उनके 'यंग इंडिया' और 'हरिजन' में उत्तर भी देते थे। धर्मग्रंथों के आधार पर ही कट्टरवादी ब्राह्मण वर्ग उन्हें धर्म–द्रोही होने का 'सम्मान' भी देता था। यहाँ तक कि जब गाँधी ने 9 महीने तक पूरे भारत में घूम–घूमकर अस्पृश्यता के विरुद्ध प्रचार किया तो कट्टरवादियों ने पुणे में यह समझकर एक कार पर बम फेंका कि वे उस कार में हैं। सात लोग जख्मी हो गये। सभायें भंग की गईं। पर्चों द्वारा चरित्र हनन किया गया। बनारस में चित्र जलाया गया। कराची में एक आदमी उन पर कुल्हाड़ी से हमला करने से पूर्व पकड़ लिया गया था। इस पूरे वर्ग को नाराज़ और उत्तेजित करने के लिए उनके ऐसे कथन काफी होते थे कि 'शैतान धर्मग्रंथों की आड़ लेता है'। वैसे भी शैतान की परिकल्पना ईसाई और मुस्लिम धर्म में प्रभावी रूप से विद्यमान है। गाँधी ने यहाँ तक भी कहा कि ''यदि हिंदू अस्पृश्यता का पक्षधर है तो मुझे हिंदू धर्म त्यागने में ज़रा भी हिचक नहीं होगी।'' हिंदू धर्म तो था ही पक्षधर फिर त्यागा क्यों नहीं? गाँधी को आशा थी और प्रयत्न भी था कि हिंदुओं का हृदय परिवर्तन हिंदू धर्म के अंतर्गत ही हो सकता है। हृदय परिवर्तन के बिना अस्पृश्यता का भूत लोगों के दिल से निकालना संभव नहीं था।

गाँधी अस्पृश्यता को हिंदू धर्म का अंग न मानकर जातीय हिंदुओं को लगातार नाराज़ कर रहे थे। अंबेदकर जैसे बुद्धिजीवी जिन्होंने संस्कृत ग्रंथों को गहराई से पढ़ा था गाँधी की इस बात को मानने के लिए तैयार नहीं थे कि अस्पृश्यता संबंधी संदर्भों को ब्राह्मणों ने कालांतर में क्षेपकों के रूप में धर्मग्रंथों में जोड़ा है। जिससे उनका वर्चस्व बना रहे। अंबेदकर *मनुस्मृति* को आधार मानकर हिंदू धर्म की बदनीयती पर आक्रमण कर रहे थे। मनुवादी संस्कृति के नाम पर आज तक वे उनके अविश्वास का शिकार हैं। अस्पृश्यता को लेकर गाँधी केवल हिंदुओं और दलितों के बारे में ही नहीं सोच रहे थे। डॉ. अंबेदकर ने भी माना है कि पाकिस्तान के अस्तित्व में आने का कारण हिंदुओं द्वारा ग़ैर–हिंदुओं को अस्पृश्य मानना था। यह विचित्र संयोग है कि इस बिंदु पर गाँधी और अंबेदकर एक तरह से

सोचते थे। गाँधी का मानना था कि अस्पृश्यता समाप्त हो जाने से हिंदू–मुस्लिम समस्या का हल भी निकल आयेगा। क्योंकि उसकी जड़ें भी ऊँच–नीच की भावना में निहित हैं। अपनी पुस्तक *गाँधी अगेंस्ट अनटचेबिलिटी* के 'एन इंट्रोडॅक्ट्री एस्से' में वीरेन रे ने पृ. 21 पर लिखा है कि इस बारे में गाँधी की तीन मान्यतायें थीं –

1. हिंदुत्व में अस्पृश्यता को समाप्त करने की सामर्थ्य है, अगर समाप्त कर देते हैं तो उनकी प्रतिष्ठा तो बढ़ेगी ही भारतीय मुसलमानों की नज़रों में सम्मान बढ़ेगा।
2. इससे स्वयं हिंदुओं में आत्मविश्वास बढ़ेगा।
3. समन्वित और जनतंत्रात्मक समाज के रूप में वे मुस्लिम भाइयों और पड़ोसियों के साथ बिना किसी ग्रंथी के संवाद स्थापित कर सकेंगे।

तीसरी मान्यता में एक निहित संकेत भी है कि अस्पृश्यता के चलते हिंदू समाज न तो एक समन्वित समाज है और न जनतंत्रात्मक। दरअसल गाँधी के लिए अस्पृश्यता का सवाल केवल धार्मिक मुद्दा ही नहीं था। उसका राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक महत्व भी था। अमरावती और कालीकट में दिया गया गाँधी का भाषण 23 नवंबर 1933 के 'हितवाड़ा' में उद्धृत है। यह उद्धरण *गाँधी एंड सोशल थॉट* पुस्तक के 'वेलफ़ेयर आफ़ हरिजन' परिच्छेद में दिया गया है – ''यदि हम उनके साथ समान स्तर पर व्यवहार नहीं करते तो हमारी बेहतरी की कोई उम्मीद नहीं।'' उसी भाषण में उन्होंने यह भी कहा था, ''अनुसंधानों के बाद पाश्चात्य वैज्ञानिक इस नतीजे पर पहुँचे हैं – यदि हम अपने समाज के किसी वर्ग को मुख्यधारा से अलग कर देते हैं तो आर्थिक दृष्टि से हमारा पतन अवश्यंभावी है। पच्चीस वर्ष के अनुभव के आधार पर मेरा यह विश्वास पक्का हुआ है कि सम्पति और धर्म के बीच समन्वय ज़रूरी है। . . . अगर हम हरिजनों के प्रति अपना कर्तव्य निबाहें तो हम सब हिंदू, मुस्लिम, पारसी, ईसाई शांति से रहेंगे।'' गाँधी का हरिजन आंदोलन जितना धर्म से जुड़ा था उतना ही उसका संबंध समाज, सम्प्रदाय, आर्थिक उन्नति और

शोषण से था। राम विलास शर्मा ने *गाँधी, अंबेदकर, लोहिया और भारतीय इतिहास की समस्याएं* की भूमिका में पृ. ix पर लिखा है, ''गाँधी ने कहा था अछूतों की मूल समस्या ज़मीन की है। उन्हें ज़मीन मिलनी चाहिये।'' यही कारण था कि भारत के इतने लोग देश छोड़ कर दूसरे देशों में गिरमिट बनने गए। यह बात अलग है कि गाँधी ने अस्पृश्यता हटाने और देश की आज़ादी की तरह इस संबंध में अलग से आंदोलन नहीं किया लेकिन यह बारबार कहा कि अस्पृश्यता आंदोलन मेरे लिए आज़ादी के आंदोलन जितना महत्वपूर्ण है। उनकी चिंता इस आंदोलन में अंतर्निहित थी। वैसे भी किसी एक व्यक्ति से हम कितने आंदोलनों की आशा कर सकते हैं। कुछ हम भी तो करें।

गाँधी के हरिजन उद्धार के बारे में जब भी बात की जाती है उनकी इन चिंताओं का ज़रा भी संज्ञान नहीं लिया जाता। जातिवाद और वर्णाश्रम मुख्य मुद्दा बन जाता है। शायद इसलिए कि उन्होंने अपने को सनातनी हिंदू घोषित कर दिया था। क्या घोषित कर देना ही काफ़ी होता है? सवाल है क्या उन्होंने एक धर्म परायण हिंदू की तरह इन दोनों मुद्दों को यथावत् स्वीकार कर लिया था या एक रणनीति की तरह स्वीकार किया था? डॉ. अंबेदकर ने भी बौद्ध धर्म यथावत् स्वीकार नहीं किया था। जब नव–बौद्ध बौद्ध धर्म ग्रहण करते हैं तो परंपरागत भंतों की उपस्थिति में वे डॉ. अंबेदकर का बौद्ध धर्म ग्रहण करते हैं। यदि जातिवाद और वर्णाश्रम परंपरागत रूप से गाँधी के विश्वास का हिस्सा थे तो हमें मान लेना चाहिये कि वे अस्पृश्यता के कोढ़ को संरक्षण दे रहे थे। ज्ञान सिंह बल ने *अंडरस्टेंडिंग अंबेदकर* पुस्तक में 'अंबेदकर–गाँधी कंट्रोवर्सी' परिच्छेद में पृ. 122 पर लिखा है कि यहाँ यह जोड़ देना सर्वथा उचित होगा कि महात्मा गाँधी अस्पृश्यता उन्मूलन की आवश्यकता के साथ इतनी धार्मिकता (रिलीजसली) से जुड़े थे कि उन्होंने कांग्रेस के विशिष्ट नेताओं की राय (यानी विरोध) को ही अनदेखा नहीं किया बल्कि वाम एवं कट्टर राजनीतिक दलों की विरोधी रायों की भी परवाह नहीं की। उन्होंने यह भी माना है कि 1933 में अस्पृश्यता उन्मूलन संबंधी देशव्यापी दौरे में दिये गये भाषणों से यह स्पष्ट है कि वे

भारतीयों की मानसिकता बदलने के प्रति कितनी गंभीरता के साथ प्रयत्नशील थे। इस उद्धरण का यह मतलब बिल्कुल नहीं कि गाँधी को हिंदू न माना जाय। कई बार अपने घर वालों और मित्रों के बारे में बिना गहराई में जाये, बहुत सी बातें परिकल्पित कर ली जाती हैं। गाँधी तो न किसी के संबंधी थे और न अवतार। फिर उनके साथ रूह–रियायत करने का कोई सवाल ही नहीं उठता था।

वर्णाश्रम गाँधी के विपक्ष में खड़ा एक आदमकद या उससे भी बड़ा सवाल है। अस्पृश्यता के विरुद्ध उठाये गये उनके सब प्रयत्नों को नकारने का एक बहुत बड़ा अस्त्र नहीं, कारण तो है ही। जब गाँधी ने स्वयं उन आरोपों को नहीं नकारा तो किसी दूसरे को उस बारे में कुछ कहने का क्या अधिकार हो सकता है? अलबत्ता जो अंतर्विरोध और साक्ष्य उपलब्ध होते हैं। उनके बारे में चर्चा की जाने की जगह ज़रूर बन जाती है। *द गुड बोटमेन* पुस्तक में लेखक राजमोहन गाँधी ने, जो गाँधी के पौत्र भी हैं, वर्णाश्रम के संदर्भ में पृ. 237 पर कुछ प्रश्नों की ओर संकेत किया है – गाँधी का उद्देश्य क्या था? हिंदू जाति–प्रथा का संरक्षण? हिंदुओं की जनसंख्या को बनाये रखना? ब्रिटिश के विरोध में अस्पृश्यों का कलंक हटाकर खून के आँसुओं को पोंछना था? ये सब सवाल धर्म, समाज, और राजनीति में अपना दख़ल रखते हैं। इनका उत्तर 'हाँ' में भी हो सकता है और 'ना' में भी। जहाँ तक वर्णाश्रम का प्रश्न है राजमोहन गाँधी मानते हैं, वर्णाश्रम पर गाँधी की सोच मिठाई में लिपटी कड़वी गोली की तरह है। वे चाहते थे कि उनके सुधारों को जातीय हिंदू निगल लें। लेखक का यह कथन गाँधी के वर्णाश्रम संबंधी विचारों को रणनीति की श्रेणी में रखता है।

1917 में, दक्षिण अफ्रीका से लौटने के लगभग दो या अढ़ाई वर्ष बाद, गाँधी ने जातिवाद के संदर्भ में कहा था कि ''जातीय व्यवस्था व्यवधान'' है। इस बात का उल्लेख गाँधी वाङ्मय के 14वें खंड के पृ. 17 पर है। बाद में गाँधी तीसरे दशक के मध्य तक अस्पृश्यता पर आक्रमण करते रहे और वर्णाश्रम का समर्थन भी। गाँधी इतना तो समझते ही रहे होंगे कि जाति–व्यवस्था को व्यवधान मानते हुए, अस्पृश्यता पर हमला और वर्णाश्रम का समर्थन उनकी साख

गिरायेगा। नीति से आक्रमण गाँधी के चरित्र का ही हिस्सा माना जाये तो उसे अहिंसा का नाम भी दिया जा सकता है। नीतियाँ परहंता भी होती है और आत्महंता भी।

वर्ण–व्यवस्था की बात करते हुए गाँधी सीधे वर्ण–व्यवस्था को स्वीकार नहीं करते। वे वर्ण–व्यवस्था को स्वीकार करते हुए भी सनातन धर्म की ऊपर उद्धृत व्याख्या की तरह उसमें भी अपने प्रावधान जोड़ देते हैं। क्या इसलिए कि वे सीधी बात करने से डरते थे? या जैसा कि राजमोहन गाँधी ने लिखा है, वे वर्ण–व्यवस्था में जोड़े गए प्रावधानों को भी जातीय हिंदुओं के गले उतरवाना चाहते थे। लेखक ने गाँधी के इस मंतव्य को भी 'इनवरटेड कौमा' के अंतर्गत उद्धृत किया है कि ''वर्ण–व्यवस्था की पुनर्स्थापना वैसी ही है जैसे एक चींटी द्वारा शक्कर का बोरा उठाया जाना''। इसी संदर्भ में उन्होंने एक विदेशी मुहावरे का उल्लेख किया है। वह ऐसा ही है जैसे ''गोरी (डेम) पार्किंग्टन अपने पोंछे से एटलांटिक को पीछे धकेल दे।'' ये दोनों टिप्पणियाँ या तो गाँधी के विभ्रम की ओर संकेत करती महसूस होती हैं या फिर यह गाँधी के स्पष्ट चिंतन को रेखांकित करती हैं कि वर्णाश्रम की पुनर्स्थापना असंभव है, ठीक वैसे है जैसे चींटी के द्वारा बोरा लादा जाना या पार्किंग्टन के द्वारा पोंछे से एटलांटिक को पीछे धकेल देना। राजमोहन गाँधी वर्ण–व्यवस्था के आधार पर व्यवसाय चुनने की बात पर भी टिप्पण ी करते हैं कि यह बात न तो स्वयं गाँधी पर लागू होती है और न उनके किसी पुत्र पर। डॉ. अंबेदकर ने भी वर्ण–व्यवस्था के समर्थन वाली बात पर इसी तरह की टिप्पणी की थी कि गाँधी क्यों नहीं अपने बाप–दादाओं का व्यवसाय करते? गाँधी ने इस बात का कोई जवाब नहीं दिया था। स्वाभाविक है कि वे यह जान गये थे कि वर्ण–व्यवस्था व्यावहारिक नहीं है। लेकिन उनको एक लाभ ज़रूर हुआ था कि उनके विरोधियों के इस प्रकार के आक्रमणों से जातीय हिंदुओं में उनकी विश्वसनीयता बढ़ी और अपनी मान्यताओं पर पुनर्विचार करने का अवसर मिला। लगता है गाँधी के नीतिचातुर्य को गलत भी समझा गया। अस्पृश्यता को दूर करने के लिए हिंदू एजेंडा को स्वीकार करना और उसे अपनी तरह व्याख्यायित करके

जातीय हिंदू वर्ग के लिए अपनी स्थिति पर पुनर्विचार करने की स्थिति उत्पन्न करने को उनकी रणनीति न समझकर वास्तविकता मान लिया गया और उन्हें अपनी आलोचना का निशाना बनाया। शायद गाँधी उस समय तक इतने महत्त्वपूर्ण हो चुके थे कि उनका विरोध भी मान्यता का कारण बन सकता था।

गाँधी ने वर्ण–व्यवस्था पर डॉ. अंबेदकर की तरह सीधे आक्रमण क्यों नही किया? शायद वे कर भी नहीं सकते थे। उनके सामने उन लोगों के हृदय परिवर्तन और उनकी गली–सड़ी मान्यताओं पर आक्रमण की चुनौती थी, जिनका वर्ण–व्यवस्था मुख्य एजेंडा था। डॉ. अंबेदकर को भी मैं उसी धर्म संकट में फंसा पाता हूँ। डॉ. अंबेदकर अस्पृश्यता के सबसे बड़े विरोधी होते हुए, दलितों के बीच स्थित जातिगत अस्पृश्यता पर सीधे आक्रमण नहीं कर पाये। उन्होंने उसे अपना एजेंडा बनाया ही नहीं। वरना दलित समाज की अस्पृश्यता विहीन एकजुटता सबसे बड़ी शक्ति होती। गाँधी ने तो *हिंद स्वराज* में जन–जातियों जैसे ठग, पिंडारी आदि का उल्लेख करते हुए कहा भी है कि उन्हें सुधारना हमारा काम है। मैं पिंडारी की गोली से मरना ज्यादा पसंद करूँगा। डॉ. अंबेदकर के सामने वह भी मुद्दे के रूप में नहीं था। विश्लेषण करते समय ज़रूर उसका उल्लेख हुआ है। वे चाहते हुए भी शायद ऐसा नहीं कर पाये। इससे उनकी नीयत पर सवाल नहीं उठ सकता। इससे तत्कालीन स्थितियों की ओर अवश्य ध्यान जाता है।

गाँधी ने वर्ण–व्यवस्था के परंपरागत ढाँचे को अपनी तरह से व्याख्यायित किया जो एकदम भिन्न था। उदाहरण के लिए –

1. गाँधी ने जातीय कर्म या व्यवसाय को वर्णाश्रम के अनुसार ऊँच–नीच के रूप में न लेते हुए उसे एक कर्त्तव्य के रूप में माना और उसमें भी छूट दी कि उसे बदला भी जा सकता है। साथ ही कहा कि वह धन इकट्ठा करने और सम्पत्ति बनाने का माध्यम नहीं हो सकता। यह बात गाँधी के 'ट्रस्टीशिप' से भी जुड़ती है।
2. वर्णाश्रम, अस्पृश्यता और जाति के बीच किसी तरह की समानता

नहीं। वर्ण का श्रेष्ठता से कुछ लेना–देना नहीं। यह मान्यता वर्णाश्रम की मूल अवधारणा के बिल्कुल विपरीत है। ब्राह्मण यदि शीश से पैदा हुआ तो वह श्रेष्ठ होना चाहिये। परंतु उन्होंने ऐसा नहीं माना। व्यवहार में भी परंपरागत ब्राह्मण को ब्राह्मण होने के कारण महत्त्व देने में विश्वास नहीं करते थे। यह बात बनारस की ज्ञानवापी और कलकत्ता के काली मंदिर में ब्राह्मणों से हुए संवाद से स्पष्ट है।

29 सितंबर 1927 के 'यंग इंडिया' में गाँधी ने लिखा : 'मनुष्य जन्मना समान हैं, एक ही आत्मा सब में है। क्योंकि मैं मनुष्य की अंतर्भूत समानता में विश्वास रखता हूँ इसलिए उस श्रेष्ठता के सिद्धान्त के विरुद्ध हूँ जिसका हमारे अनेक राजा दावा करते रहे हैं। क्योंकि यह मेरा विश्वास है इसलिए मुझे अपने को भंगी, जुलाहा, बुनकर, किसान, मज़दूर कहने में सुख मिलता है . . . जो व्यक्ति अपने को श्रेष्ठ मानता है उसे मैं अमानवीय मानता हूँ।'' गाँधी का यह मत ब्राह्मणीय वर्णव्यवस्था के एकदम विपरीत है। मानवीय संबंधों की दृष्टि से यह व्याख्या महत्त्वपूर्ण है। केवल शब्द या गणित की तरह अंकों का जोड़ या गुणांक परम सत्य या महत्त्वपूर्ण नहीं होता। जब गाँधी परंपरागत वर्ण से अलग अपना स्थान बनाकर अपने को भंगी, जुलाहा, बुनकर या मज़दूर आदि कहते हैं तो इसका अर्थ यह नहीं कि वे वर्ण–व्यवस्था का समर्थन कर रहे हैं। बल्कि वे उसके द्वारा खींची गई लक्ष्मण रेखा के पार खड़े होते हैं। वर्ण–व्यवस्था को मान्यता देकर वे वर्ण–व्यवस्था को छलते हैं, उसका अनुसरण नहीं करते। उसका आर्थिक पक्ष भी है। आज़ादी की लड़ाई के दौरान उन्होंने एक समानांतर आर्थिक व्यवस्था तैयार करने के लिए और बेरोज़गारी हटाने या कम करने की दृष्टि से किसी अभिजात्य व्यवसाय जैसे ज्योतिष या दुकानदारी आदि को नहीं चुना। गाँधी को जो व्यवसायियों का नेता मानते हैं यह बात उनके लिए शायद विचारणीय मुद्दा हो। आज ज्योतिष की शिक्षा देकर उसे व्यवसाय बनाने की चर्चा है। उन्होंने चरखे को चुना। कातना–बुनना न तो अभिजात्य व्यवसाय है और न उच्च–वर्ण का। बल्कि उच्च–वर्ण के

लिए कातना, बुनना, हल छूना यानी हाथ का काम करना पाप–कर्म की तरह देखा जाता था। इसीलिए उच्च–वर्ण अधिकतर परजीवी रहा। गाँधी भी दलित और शूद्रों की आर्थिक स्थिति के बारे में चिंतित हैं। कहने वाले यह तर्क दे सकते हैं, जैसे अस्पृश्यता का विरोध करके गाँधी हिंदुओं को बचाना चाहते थे, ऐसे ही इन व्यवसायों का समर्थन करके वे गरीब को गरीब बनाये रखना चाहते थे। नेहरू मॉडल के अनुसार उन्होंने बड़े कारखानों का समर्थन क्यों नहीं किया? यह मॉडल यहाँ भी फ़ेल हो गया और जहाँ से आया था वहाँ भी भुखमरी की स्थिति है। गाँधी ने *हिंद स्वराज* में लिखा है, मैं कल–मशीनों के खिलाफ नहीं हूँ बशर्ते उनका लाभ केवल चंद लोगों को धन इकट्ठा करने के लिए न पहुँचता हो। कल–पुर्जों का विरोध विकास का विरोध उतना नहीं जितना उनके केंद्रीयकरण का विरोध है।

इस दृष्टि से 1947 से पूर्वोत्तर काल को देखा जाये तो निम्न, निम्न–मध्य और उच्चतर–मध्यम वर्ग की और उच्च जातियों की महिलायें भी सूत कातकर गाँधी आश्रमों में बेचती या बिकवाती थीं। उसके बदले पैसा या खादी पाती थीं। यही नहीं घरों में निवाड़ और दरियाँ बुनने का काम भी करती थीं। उच्च वर्ग की महिलाओं के मन से इस काम को करने के कारण हतक का भाव लगभग निकल गया था। यह गाँधी के द्वारा विकसित हो रहे नये आर्थिक समाज की मानसिकता थी। हाथ के काम को प्रतिष्ठा मिल रही थी। ब्राह्मणीय व्यवस्था उसे अस्पृश्य समझती थी।

फिर बात अस्पृश्यता पर आती है। गाँधी इस प्रश्न को समकालीनता तक ही सीमित नहीं रखना चाहते थे। वे उसे विश्व इतिहास के संदर्भ में भी देखते थे। 16 जनवरी 1934 को 'दी हिंदू' समाचार पत्र में उन्होंने एक लंबा लेख लिखा था। उसमें उन्होंने लिखा कि ''यदि हम, तथाकथित सवर्ण इस थोड़े से समय में, (जिसे उन्होंने प्रोबेशन कहा) जो हमें अपने को सुधारने के लिए मिला है, अपने मूल दायित्व को पूरा करने में सफल नहीं होते तो हिंदुत्व एक अतीत की वस्तु हो जायेगी। इतिहास बताता है कि अनेक सभ्यतायें, सभ्यताओं के कारकुनों में निहित कमज़ोरियों के कारण सदा–सदा के लिए विलीन

हो गईं।——

डॉ. अंबेदकर ने भी इस संदर्भ में इतिहास का विस्तृत परीक्षण किया है। चूंकि गाँधी अंबेदकर की तरह थ्योरिटीशियन या विचारक नहीं थे इसलिए वे इतिहास के उस पक्ष की ओर संकेत मात्र कर देते हैं जो सभ्यताओं के लिए संकट की स्थिति पैदा कर देता है। उसी संकट से हिंदुत्व के गुज़रने की बात की ओर संकेत करते हैं। आज जो दलित असंतोष है वह अंबेदकर या गाँधी के समर्थन या विरोध में उतना नहीं जितना हिंदू धर्म के कारकुनों की कमज़ोरियों के कारण है।

अस्पृश्यता पर वक्तव्य – 8 (vii), *गाँधी वाङ्मय* खंड 52, पृ. 10.11 में उन्होंने यह भी स्पष्ट किया है कि ''जब मैं सीन से अनुपस्थित हो जाऊँगा, अस्पृश्यता को जाना पड़ेगा।'' यह वक्तव्य एक भविष्यवाणी की तरह है। इसके आसार नज़र तो आने लगे हैं परंतु अस्पृश्यता के जाने में आरक्षण शायद अवरोध बने। संविधान बनाते समय यह शंका संभवतः डॉ. अंबेदकर के दिमाग में रही होगी इसीलिए उन्होंने उसे सीमित समय के लिए किया था। इसी खंड में गाँधी ने पृ. 71 पर अपने हिंदुत्व को काफी हद तक स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। ''यह न मुसलमान विरोधी है, न ईसाई विरोधी है और न किसी अन्य धर्म का विरोध करता है। यह तो मुसलमान समर्थक, ईसाई समर्थक, संसार के हर धर्म का समर्थन करने वाला है। मेरे लिए हिंदुत्व एक वृक्ष के तने से निकली शाखा की तरह है, जिसकी जड़ों और जिसकी खूबी को हम एक सामूहिक शक्ति के रूप में देखते हैं . . . यदि हिंदू शाखा में ज़हर फैलता है तो यह ज़हर दूसरे धर्मों में भी फैलेगा।'' गाँधी का यह कथन एक पैग़म्बरी कथन से कम नहीं। यदि 'वसुधैव कुटम्बकम्' की कोई व्याख्या हो सकती है तो यही व्याख्या है। धर्म का यही समन्वित स्वरूप हो सकता है।

जातियाँ वर्णाश्रम की रीढ़ थीं और हैं। डॉ. अंबेदकर ने भी यही माना है ''जब तक जातियाँ हैं तब तक अस्पृश्यता है।'' गाँधी ने आरंभ में जातीय व्यवस्था को हिंदुओं को अनुशासित रखने के लिए अनिवार्य माना था। दूसरे दशक में उन्होंने कहा कि अस्पृश्यता के

विरोध का अर्थ यह नहीं कि वे अंतर्जातीय विवाह और समन्वित भोज के पक्ष में हैं। गाँधी ने अस्पृश्यता पर वक्तव्य – 10 (x) गाँधी वांड्मय खंड 52 पृ. 153 पर समन्वित या अंतर्जातीय सहभोज के बारे में लिखा है :

> Interdining means dining with those who may touch your food and whose food you may touch but dining together under the roof without mutual touch does not mean interdining . . . . If untouchability of Harijans is removed there can be no objection to their sharing the family meals precisely on the same terms as other castes. There are again innumerable social functions and ceremonies to which Harijans are not invited by caste men. Their cattle and other domestic animals may share their joy and sorrows but not Harijans. . . .

इसी संदर्भ में 'गाँधी मार्ग' (अक्तूबर–दिसम्बर, 1999, पृ. 271.72) का उद्धरण गाँधी के विकसित होते चिंतन की ओर संकेत करता है। गाँधी में अपने आप को स्थितियों से जोड़कर, उनका विश्लेषण करके, उनके साथ चलने का सतत् प्रयत्न नज़र आता है। वे अपने मंतव्य को, अगर वह तर्क संगत है और जनसाधारण के हित में है, बदलने में ज़रा भी गुरेज़ नहीं करते। इस दृष्टि से वे प्रवाहमान हैं। 1935 में 'हरिजन' के कालमों में उन्होंने कहा कि ''वर्णाश्रम में अंतर्जातीय विवाह और समन्वित सहभोज (इंटर डाइनिंग) पर न प्रतिबंध था और न होना चाहिये।'' 1936 में उन्होंने इस बात की पुष्टि की कि ''यदि भारत अविभाज्य है, निश्चित रूप से उसमें, कृत्रिम रूप से विभाजित करके अनेक ऐसे छोटे–छोटे समुदाय नहीं होने चाहिये जो न सहभोज में सम्मिलित हों और न अंतर्जातीय विवाह में।'' उन्होंने आगे कहा कि ''इस क्रूर प्रथा में कोई धर्म नहीं था।'' गाँधी ने जातीय व्यवस्था पर आक्रमण ही नहीं किया बल्कि वर्णाश्रम को भी पूरी तरह ध्वस्त कर दिया। क्रूर प्रथा की संज्ञा देकर उसे धर्म से बाहर कर दिया।

वर्णाश्रम और जाति को लेकर डॉ. अंबेदकर का पूरा विवेचन उनकी आरंभिक मान्यता पर निर्भर है। जिसके आधार पर उन्होंने

जातीय व्यवस्था को हिंदू धर्म का अंग मानकर उसका समर्थन किया था। यही बात वर्णाश्रम के संबंध में भी है। कई बार मंतव्य और मूल धारणा शब्दों से भिन्न होते हैं। बात कुछ कहते हैं और संदेश कुछ और होता है। क्या ऐसा नहीं लगता, गाँधी अस्पृश्यता से जुड़ी गुत्थियों – वर्णाश्रम ओर जाति को सुलझाने के क्रम में अपने 'स्टैंड' को निरंतर बदलते गये। भले ही संज्ञान न लिया गया हो। इसके पीछे गाँधी का डॉ. अंबेदकर के साथ होते वैचारिक द्वंद्व से समृद्ध होना भी है। भले ही डॉ. अंबेदकर उस परिवर्तन से अनभिज्ञ रहे हों। उन्होंने 1931 में 'हरिजन' में स्पष्ट लिखा, ''जातीय व्यवस्था वर्णाश्रम की विलाम है, जितनी जल्दी जनमत उसे अस्वीकार कर दे उतना अच्छा।' यदि जनमत जातीय व्यवस्था को हटा दे, तो वर्णाश्रम के परंपरागत रूप का क्या होगा? यह सोचने की बात थी। जीवन के अंतिम दिनों में तो उनकी उपस्थिति में ऐसा कोई विवाह संपन्न होना संभव ही नहीं रहा था जिसमें एक पक्ष हरिजन और दूसरा पक्ष जातीय हिंदू न हो। यही नहीं, गाँधी अपने सहयोगियों के बारे में भी जानकारी रखते थे कि कौन अंतर्जातीय सहभोजों और विवाहों में हिस्सा लेता है, कौन नहीं?

'मंदिरों में प्रवेश' यद्यपि एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न रहा है। डॉ. अंबेदकर ने भी आरंभ में इसे सकारात्मक दृष्टि से देखा था। लेकिन बाद में दलितों की आर्थिक स्थिति सुधारने को महत्त्व देते हुए इसे कमतर आँका जाने लगा। हालाँकि वह भी एक 'हाइपोथेटिकल' (काल्पनिक) मुद्दा ही बना रहा। एक तरह से उस पर प्रश्नचिन्ह सा लग गया। यह बात ध्यान देने योग्य है कि गाँधी बचपन में मंदिर जाने के विरुद्ध थे। काशी विश्वनाथ मंदिर की दशा देखकर उन्होंने संकल्प ले लिया था कि वे मंदिर नहीं जायेंगे और न ही गये। मंदिर एक तरह से कर्मकांड का हिस्सा है। जैसे विज्ञान के साथ प्रौद्योगिकी, ऐसा ही धर्म के साथ पूजास्थलों का स्थान है। अगर पुजारी वर्ग अन्यथा न लें और क्षमा करे तो वह उस टेक्नॉलॉजी का मैकेनिक या फ़ोरमेन है। पुजारी वर्ग का हिंदू समाज पर अनुशासन इन मंदिरों के माध्यम से ही होता है। प्रेमचंद की कहानियों में इस यांत्रिकी के अमानवीय पक्ष की मार्मिक अभिव्यक्ति है। दलित लेखकों की आत्मकथाओं में

भी इस तरह के संदर्भ आये हैं। लेकिन गाँधी ने इस सबके बावजूद मंदिर–प्रवेश को अस्पृश्यता निवारण का एक बहुत बड़ा माध्यम ही नहीं माना बल्कि उसे मनोवैज्ञानिक और सामाजिक अनिवार्यता भी समझा। धर्म बौद्धिक वर्ग के लिए भले ही अफ़ीम या अंधविश्वास हो परंतु सामान्य लोगों के लिए वह जीवन जीने का संबल है। उसका आधार पूजास्थल हैं। चाहे धर्म कोई भी क्यों न हो। वैयक्कम मंदिर के पास की सड़क से गुज़रना जब एक वर्ष तक सत्याग्रह का कारण बन सकता है तो मंदिर–प्रवेश तो जातीय हिंदू के अहंकार के लिए बहुत बड़ी चुनौती थी। इस अहंकार को तोड़ने का भी मंदिर–प्रवेश एक बहुत बड़ा माध्यम था। उसका सामाजिक महत्त्व बहुत बड़ा था। दूसरी जातियों के लोग अंत्यजों के साथ भी वैसा ही व्यवहार करें जैसा वे आपस में करते हैं। यही सामाजिक समानता का आधार बन सकता था। दूसरे, पूजा–पाठ की समानता भी सामाजिक संबंधों का मुख्य आधार होता है। इस बात को मोहनदास गाँधी ने प्रिटोरिया में अपने सीनियर मि. बेकर के साथ प्रतिदिन प्रार्थना में सम्मिलित होकर गहराई से महसूस किया था।

गाँधी मंदिरों में ज़बरदस्ती प्रवेश के खिलाफ थे। जब महापावन नारायण गुरु ने वैयक्कम में 'बैरियर्स' यानी बाढ़ों को लाँघकर प्रवेश करने का प्रस्ताव रखा था तो गाँधी ने उससे असहमति प्रकट की थी। उन्होंने 'इंडियन सर्विस सोसाइटी आफ़ डिप्रेस्ड क्लास' पुणे, के महामंत्री पी. एन राजयोग को अपने 4 दिसम्बर 1932 के पत्र के गुरुवायुर मंदिर के संदर्भ में लिखा था :

1. किसी मंदिर को ज़बरदस्ती नहीं खुलवाना चाहिये।
2. यदि जनमत मंदिर में हरिजनों के प्रवेश के विरुद्ध है तो हमें दूसरे रास्ते अपनाने होंगे। उन्हें शिक्षित करके जनमत पक्ष में करना होगा।
3. हरिजनों के मंदिर–प्रवेश के संदर्भ में ऐसी कोई शर्त नहीं होनी चाहिये जो अन्य हिंदू भक्तों पर लागू न होती हो।
4. गोमांस चूँकि हिंदुओं में वर्जित है इसलिए हरिजनों को गोमांस त्याग देना चाहिये। ये उन्हें स्वयं करना चाहिये, बाहर से थोपा

नहीं जाना चाहिये।

मंदिरों का 'सोश्यो–रिलीजस' महत्त्व रहा है। मंदिर और महंत हिंदुओं के धार्मिक और सामाजिक जीवन नियोजित करने वाले नियमों का नियमन करते हैं। तमिलनाडु में तो मंदिर ब्राह्मणीय देवताओं के निवास माने जाते हैं। 'तमिजहागम' (Tamizhagam) यानी प्राचीन तमिलनाडु में पहले जन्म के आधार पर छोटा या बड़ा नहीं माना जाता था। कहा जाता है वर्णाश्रम आर्यों के प्रवेश के साथ उत्तर भारत से आया। जब मंदिर जीवन की व्यवस्था को मोड़ देने की सामर्थ्य रखते हैं तो स्वाभाविक है मंदिरों में हरिजनों का प्रवेश एक 'सोश्यो–रिलीजस' अनिवार्यता थी। जातीय हिंदू इस स्थिति के महत्त्व को समझते थे। वे जानते थे कि यदि ऐसा हुआ तो उस वर्ग के लिए अपनी विशिष्टता बनाये रखना कठिन होगा। मंदिर प्रवेश के द्वारा गाँधी विशिष्टता के उस तिलिस्म को तोड़ना चाहते थे।

डरबन (दक्षिण अफ्रीका) में संयुक्त राष्ट्र द्वारा 31 अगस्त–7 सितंबर 2001 को, नस्लवाद पर आयोजित विश्व सम्मेलन के समय 'अंबेदकर सेंटर फ़ार जस्टिस ऐंड पीस' की ओर से एक पैम्फलेट बँटा था, 'दलित विमेन परेडेड नेकड इन बेलारी'। उसमें यह भी लिखा था कि ''वे हमें मंदिरों में नहीं जाने देते। वे सामने के पेड़ों के नीचे नहीं बैठने देते। जब हम अपने बर्तनों में पानी भरने जाते हैं तो हमारे बर्तन हटाकर अपने बर्तन रख देते हैं।''

इक्कीसवीं सदी के उत्तरार्ध में भी मंदिर–प्रवेश, जल भरने आदि प्रश्नों को लेकर इतनी संवेदनशीलता है तो मंदिर–प्रवेश उस ज़माने में कैसे महत्त्वपूर्ण मुद्दा नहीं था। आज भी है। आज तो कानून भी उपलब्ध है। गाँधी और अंबेदकर द्वारा इतने बड़े आंदोलनों के बावजूद उस स्थिति में आज भी कोई खास परिवर्तन नहीं आया है। कुँओं से अथवा नलों से पानी भरने का मुद्दा तो आज भी उतना ही संवेदनशील है जितना प्रेमचंद की कहानी 'ठाकुर का कुँआ'', में दिखाई पड़ता है।

गाँधी द्वारा दलितों को 'हरिजन' नाम दिया जाना भी नाराज़गी का एक बहुत बड़ा मुद्दा बना हुआ है। सवाल वाजिब है कि कोई

किसी वर्ग का नामकरण क्यों करे? उनके ऊपर यह आरोप है कि 'हरिजन' नाम देने के पीछे गाँधी का उद्देश्य हरिजनों को हिंदुओं के संरक्षण में रखना था। कुछ लोग तो इस बात से इतने नाराज़ हैं कि वे पूछते हैं, यदि दलित 'हरि' यानी भगवान की औलाद हैं तो वे स्वयं क्या शैतान की औलाद हैं? कई बार ऐसे सवाल अपरिपक्व ज्ञान के कारण उत्पन्न हो जाते हैं। लेकिन वे थे और उनके हिसाब से सब जातीय हिंदू हैं। इतना अमानवीय व्यवहार शैतान या शैतान की औलाद ही कर सकती है। जो दलित वर्ग के साथ किया गया। इस आशंका का समाधान कि गाँधी शैतान की औलाद थे या नहीं, उनके द्वारा व्यक्त किया गया विचार ही कर सकता है – ''अंत्यज, अस्पृश्य ही, जो सेवा करते हैं और सम्पूर्ण समाज का भार वहन करते हैं, हरिजन कहला सकते हैं। जहाँ तक उच्च जातियों का सवाल है जो बिना किसी तरह की सेवा किये हुकूमत करते हैं, वे वास्तव में दुर्जन (शैतान की संतान) हैं।''

गाँधी ने दलितों को हरिजन कहने की गुस्ताखी की तो सवर्णों को, जिनमें वे स्वयं भी सम्मिलित थे, दुर्जन कहने का साहस भी किया। यह उस ज़माने में किया जब दलितों के लिए 'हरिजन' नाम नाराज़गी का कारण नहीं बना था। तब तक हरिजन शब्द को इस रूप में व्याख्यायित करने वाले पैदा भी नहीं हुए थे। शायद इसका दार्शनिक कारण भी रहा हो। यह बात क्षमायाचना के साथ कह रहा हूँ। गाँधी ने 6 अक्तूबर 1921 को 'यंग इंडिया' में लिखा था कि ''संसार के सभी धर्मों में ईश्वर को मूलरूप से मित्रहीन का मित्र कहा गया है। . . . दुनिया के सब धर्मों की बात न भी हो तो इस देश में, जहाँ चार करोड़ से भी ज़्यादा हिंदुओं को अस्पृश्य या अछूत वर्ग में रख दिया गया, उनसे अधिक मित्रविहीन, कमज़ोर और असहाय कौन हो सकता है?'' तब यही स्थिति थी जब गाँधी ने उपरोक्त टिप्पणी की थी। स्वाभाविक है गाँधी ने यह बात अपने पूरे होशोहवास में कही होगी। मुझे नहीं लगता मानवीय स्तर पर इतनी गहरी संवेदना के साथ इस स्थिति का किसी ने वर्णन किया हो। यह दयाभाव या सहानुभूति नहीं, विरोधाभास भरा सामाजिक दर्द है। लेने को हम किसी भी रूप में ले सकते हैं।

डॉ. धर्मवीर ने अपने लेख 'दलित चिंतन का विकास' में जिसका उल्लेख ऊपर भी हुआ है, एक तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित किया है :

> हिंदुस्तान के दलित ने शब्द हरिजन को अपने लिए अपशब्द और अपमानजनक माना और कानून की भाषाओं में इस प्रयोग पर पाबंदी लगवा दी है। यह ठीक हुआ (उन्होंने यह भी कहा है कि गाँधी जी को ऐसा कोई हक नहीं था) लेकिन उसके (हरिजन) विकल्प में अपना कोई शब्द नहीं दिया। खुद आज प्रयोग हो रहे इस दलित शब्द से उसे भारी आपत्ति है। पुरानी शब्दावली के 'शूद्र', 'अस्पृश्य', 'अंत्यज', 'श्वपच', 'सूकर' और 'चाण्डाल' जैसे शब्दों से वह खुद को जोड़ना नहीं चाहता। संविधान के बिल्कुल नये शब्द 'एस. सी.' 'अनुसूचित जाति' (जिसका प्रावधान डॉ. अंबेदकर की देखरेख में हुआ) के प्रयोग से भी वह डरा हुआ है। (*दलित–अश्वेत साहित्य : कुछ विचार,* संपा. चमन लाल, पृ. 62) कभी–कभी क्या ऐसा नहीं लगता कि शब्दों के प्रयोग पर विवाद के कारण कुछ महत्त्वपूर्ण मुद्दे भी नज़रअंदाज़ हो जाते हैं?

गाँधी दलितों के प्रवक्ता स्वयं बने रहना चाहते थे। उन्होंने गोलमेज़ सम्मेलन में इस बात को कहा भी था। शायद उन्हें ऐसा नहीं कहना चाहिये था। लेकिन क्या उसके पीछे भी वैसी ही दुर्भावना थी जैसी उनके अनेक निर्णयों और कार्यों के पीछे देखी या समझी गई? शायद उस समय उस लड़ाई को इतनी शिद्दत के साथ लड़ने वाला अन्य कोई व्यक्ति दृश्य पर नहीं था। इस वाक्य की कटुता 'सवर्णों में जोड़कर समाप्त किया जा सकता है। 1915 से इस लड़ाई को लड़ते–लड़ते लगभग डेढ़ दशक हो चुके थे। 5 जनवरी 1922 को उन्होंने कहा, ''. . . . हमें अस्पृश्यता से लड़ने के लिए भगीरथ प्रयत्न (हारकूलियन टास्क) करना चाहिये। जब तक अस्पृश्य हिंदुत्व के सुधरने के बारे में प्रमाणित नहीं करते हम कैसे कह सकते हैं कि इस दिशा में हमने कुछ किया है।'' गाँधी हिंदुत्व के सुधरने या न सुधरने की कसौटी न अपने पास रखते हैं और न उन विद्वानों को

देते हैं जो सर्वगुण संपन्न हैं। वे उन्हीं को न्याय का अधिकार देते हैं जिन्होंने उस प्रताड़ना को भोगा है। साथ ही जब वे इस तरह के प्रश्न उठाते हैं तो अपना मूल्यांकन भी करते हैं। 23 अप्रैल 1933 को, जब डॉ. अंबेदकर अस्पृश्यता के विरुद्ध एक बड़े योद्धा के रूप में मंच पर आ चुके थे, उन्होंने कहा, ''. . . सवर्णों का गुलाम बने रहने पर उन पर और उनकी दया पर जीने तथा उनकी जूठ खाने से बेहतर होगा कि हरिजन सवर्ण हिंदुओं के खिलाफ संघर्ष करें। डॉ. अंबेदकर और राव बहादुर श्रीनिवासन को इस लड़ाई की तैयारी के लिए किसी सहायता की आवश्यकता नहीं। . . . अस्पृश्यता खुदादाद नहीं है। यह मनुष्य की देन है . . .।''

उनका संकेत शायद यह रहा हो कि वे स्वतंत्र रूप से अहिंसक संघर्ष का रास्ता अपनायें। गाँधी की सोच की परिधि में ही 'संघर्ष' शब्द की व्याख्या की जानी चाहिये। वैसे संघर्ष किसी भी रूप में संभव है। जब 1933 में गाँधी हरिजनों को डॉ. अंबेदकर और रावबहादुर के नेतृत्व में लड़ने की प्रेरणा दे रहे थे तो स्वयं भी उस लड़ाई की तैयारी कर रहे थे। मई 8–29, 1933 में उन्होंने अस्पृश्यता के विरोध में 21 दिन का उपवास किया था। 'संघर्ष' से तात्पर्य शायद यही रहा हो।

उससे पूर्व 1927 में डॉ. अंबेदकर के नेतृत्व में कोलाबा ज़िला बहिष्कार परिषद् के सहयोग से महाद सत्याग्रह हुआ था, चौदर टेंक को सवर्णों के आधिपत्य से मुक्त करने के लिए। इस सत्याग्रह में गाँधी की शायद ही कोई भूमिका रही हो। सिवाय इसके कि वह सत्याग्रह था और डॉ. अंबेदकर कर रहे थे। डॉ. अंबेदकर के दिमाग में 'डाइरेक्ट एक्शन' की योजना थी। पर उन्होंने इस बात को किसी पर ज़ाहिर नहीं होने दिया था। वे लोग उस टैंक में आचमन करके चले आये थे। उसके बाद सवर्णों ने शुद्ध किया। उसी वर्ष बाद में लगभग 15000 दलितों के साथ फिर महाद सत्याग्रह का आयोजन किया गया था और उस समय *मनुस्मृति* जलायी गई थी जो उनके गुस्से की भी अभिव्यक्ति थी। महाद सत्याग्रह का एक सामाजिक पक्ष था दलितों के लिए पानी उपलब्ध कराना। चौदर टैंक खोलना। महाद म्यूनिस्पेलिटी पहले ही चौदर टैंक खोलने का प्रस्ताव कर

चुकी थी। अतः डॉ. अंबेदकर का सत्याग्रह म्यूनिस्पेलिटी के प्रस्ताव का समर्थन ज़्यादा था जो एक संवैधानिक प्रक्रिया थी। भले ही वह सवर्णों के अवैध अधिकार का विरोध हो। उस समय तक डॉ. अंबेदकर गाँधी को अंत्यजों का साथी मानते थे। अंबेदकर एक स्वतंत्र नायक के रूप में प्रतिष्ठित होते जा रहे थे या हो गये थे।

वीर भारत तलवार ने भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान से प्रकाशित *दलित और अश्वेत साहित्य* पुस्तक में सम्मिलित अपने लेख 'दलित साहित्य की अवधारणा' में प्रेमचंद, निराला, और मुल्कराज आनंद के द्वारा दलितों पर लिखे गये 'सहानुभूति साहित्य' का उल्लेख किया है। 1927–28 में लिखा जाने वाला साहित्य तब तक 'सहानुभूति साहित्य' की श्रेणी में नहीं आया था। उस समय जो लोग लिख रहे थे वे यही समझकर लिखते थे कि वे दलितों के बारे में यथार्थ साहित्य का सृजन कर रहे हैं। यह उनका दायित्व है कि समाज की विकृतियों को सामने लायें। डॉ. तलवार का मानना है, ''उसके पीछे सिर्फ गाँधी जी का अछूतोद्धार आंदोलन नहीं, अंबेदकर के आंदोलन का दबाव था।''

1927 में डॉ. अंबेदकर का महत्त्वपूर्ण महाद *सत्याग्रह* प्रकाश में आ चुका था। गाँधी तब तक अपने अछूतोद्धार आंदोलन का कम से कम डेढ़ दशक पार कर चुके थे। यही नहीं मुल्कराज आनंद का 'अछूत' उपन्यास गाँधी जी द्वारा सुधारा गया था। हालाँकि मुल्कराज आनंद ने भूमिका में इस बात का उल्लेख करना ज़रूरी नहीं समझा। डॉ. तलवार अगर यह कहते कि अंबेदकर का गाँधी के विचारों पर प्रभाव पड़ना शुरू हो गया था तो माना भी जा सकता था। उनका यह कहना कि अछूतोद्धार अंबेदकर के आंदोलन के दबाव का नतीजा था, यह बात काल–दोष भी उत्पन्न करती है और उसे तथ्यों से साबित करना भी कठिन होगा। एक ही उदाहरण देना पर्याप्त होगा। गाँधी 6 अक्तूबर 1921 को 'यंग इंडिया' में लिख चुके थे, ''हिंदू न तो आज़ादी पाने के योग्य हैं और न पा सकते हैं यदि वे अस्पृश्यता का दाग बनाये रखकर अपने श्रेष्ठ धर्म को अपमानित करेंगे।'' गाँधी की परिपक्वता और आक्रामकता स्थापित हो चुकी थी और डॉ. अंबेदकर महान नेता के रूप में उभर रहे थे।

दूसरी बात डॉ. तलवार ने कही कि गोदान में पंडित मातादीन के मुँह में हड्डी डालकर उनका धर्म भ्रष्ट करने जैसी कार्यवाही गाँधी जी के नहीं अंबेदकर के असर को दिखाती है। यह तथ्य भी विचारणीय है। डॉ. अंबेदकर के चरित्र में ऐसी आक्रामकता कहीं नज़र नहीं आती। वे संविधान–प्रिय व्यक्ति थे। संविधान और नियम की सीमा में रहकर काम करने वाले। उन्होंने महाद सत्याग्रह भी तब किया जब म्यूनिस्पेलिटी ने चौदर टैंक को सबके लिए खोलने का प्रस्ताव पास कर दिया था। उनका सत्याग्रह उस वर्ग के खिलाफ था जो उसे क्रियान्वित नहीं होने दे रहा था। वे शांतिप्रिय व्यक्ति थे। शायद इसलिए उन्होंने अहिंसा के देवता बुद्ध का धर्म अपनाया। जहाँ गाँधी का प्रश्न है उनके चरित्र में अराजकता का अंश भी था और उन्होंने युद्ध का अपना तरीका सत्याग्रह के रूप में ईजाद भी किया था। अंबेदकर का मानसिक संतुलन और तर्कप्रियता ही उन्हें बुद्धिजीवी बनाती है। उनके बारे में यह कहना कि अंबेदकर के प्रभाव में मातादीन के मुँह में हड्डी डालकर धर्म भ्रष्ट करने का प्रयत्न किया गया, डॉ अंबेदकर की गरिमा को कम करना है। आख़िर लेखक का अपना व्यक्तित्व भी होता है, उसके पात्रों की कुछ प्रतिक्रियायें उसके अपने व्यक्तित्व की छाया में भी बनती हैं। मातादीन के साथ वह घटना न गाँधी की देन थी और न डॉ. अंबेदकर का प्रभाव था। उसे प्रेमचंद के अपने व्यक्तित्व की छाप मानना गलत न होगा। उनका पूरा साहित्य देखा जाये तो उन्होंने ब्राह्मणीय रूढ़िवाद को कभी पसंद नहीं किया। जब भी मौका मिला उस पर आक्रमण ही किया।

गाँधी पर सबसे बड़ा और भीषण आरोप 'डिप्रेस्ड क्लास' के लिए ब्रिटिश प्रधानमंत्री रम्ज़े मैक्डोनॉल्ड के 'कम्यूनल एवार्ड' द्वारा विधान मंडल आदि में सीटों के आरक्षण को बाधित करने का है। उस मसले पर गोलमेज़ सम्मेलन में गाँधी और अंबेदकर के बीच हुई बहस ने डॉ. अंबेदकर का कद ऊँचा कर दिया था। ब्रिटिश के द्वारा उस माँग का समर्थन और 'एवार्ड' के द्वारा कार्यान्वयन ने उनकी स्थिति को अक्षुण्ण बनाया था। उस ज़माने में गाँधी का विरोध 'व्यक्ति' की गरिमा की पहचान थी। शुरू में गाँधी का ब्रिटिश की न्यायप्रियता पर गहरा विश्वास था। डॉ. अंबेदकर का बाद तक

रहा। गाँधी और डॉ. अंबेदकर दोनों की रणनीतियाँ भी अलग–अलग थीं। गाँधी अस्पृश्यता के लिए जातीय हिंदू को ज़िम्मेदार मानते थे। इसलिए वे चाहते थे अस्पृश्यता की जो चादर उन्होंने दलित वर्ग को ओढ़ायी है, उसे वे ही उतारें। डॉ. अंबेदकर उसे वैधानिक तरीके से उतारना चाहते थे। वे नहीं चाहते थे कि इसका श्रेय उन हिंदुओं को मिले जिन्होंने शताब्दियों से उन्हें सताया है। जहाँ तक 'एम्पावरमैंट' का प्रश्न है सवर्णों ने सम्पूर्ण राजनीतिक, शैक्षिक, सामाजिक और धार्मिक सत्ता अपने में केंद्रित की हुई थी। उसे वे आसानी से नहीं छोड़ना चाहते थे। गाँधी उसका सम्यक् विकेंद्रीकरण चाहते थे, हृदय परिवर्तन के द्वारा। जिससे वैमनस्य न बढ़े। अंबेदकर के लिए हृदय परिवर्तन की नीति निरर्थक थी। वे उसे कानून के द्वारा दलितों के पास लाना चाहते थे। दोनों का उद्देश्य एक था पर रास्ते भिन्न थे। गाँधी की चुनौती कठिन थी। आज़ादी के बाद दलितों के पक्ष में बने कानून कितने प्रभावी हो पाएंगे कहना कठिन था। हृदय परिवर्तन की पूरी सफलता भी संदिग्ध थी। जिनके हाथ में धार्मिक और सामाजिक सत्ता थी वे सवर्ण थे। उनसे लेकर दलितो तक पहुँचाना एक बड़ी जद्दोजहद थी। उसके लिए उस शक्तिशाली वर्ग से विगत संतों और समाज सुधारकों की तरह सतत् लड़ते रहना था। गाँधी स्वयं सवर्णों का हिस्सा थे। भले ही वे उनसे असहमत हों और सदियों से भोगते चले आ रहे अधिकारों को बाँटना चाहते हों। अपनों के ख़िलाफ़ लड़ना कठिन होता है, खासतौर से उस समय जब उनकी निरंकुश सत्ता में सेंध लगाने की स्थिति हो। वर्ग–संघर्ष तो फिर भी आसान है परंतु अंतर्वर्ग–संघर्ष कठिन होता है। डॉ. अंबेदकर का संकट दूसरा था। वे अपने वर्ग को उस वर्ग के समान लाकर खड़ा करने की लड़ाई लड़े जा रहे थे जिन्होंने उनको एक अमानवीय जीवन जीने के लिए बाध्य किया था। उनकी लड़ाई अपने वर्ग से बाहरी वर्ग के साथ थी। ठीक उसी तरह जैसे गाँधी और कांग्रेस की आज़ादी की लड़ाई ब्रिटिश से थी। भले ही डॉ. अंबेदकर यह मानते हों कि ब्रिटिश ने अस्पृश्यता के मुद्दे को उसी रूप में संभालकर रखा था जिस रूप में उन्हें मिला था। पर उनका उनके न्याय में इसलिए विश्वास था कि वे समझते थे वे तटस्थ रहेंगे। वैसे ब्रिटिश मुस्लिम और सिक्खों

को सीटों का आरक्षण दे चुके थे। तब कांग्रेस ने उसका विरोध नहीं किया था। डॉ. अंबेदकर का मानना था जैसे 'कम्यूनल एवार्ड' उन पर लागू हुआ वैसे दलितों या 'डिप्रेस्ड' क्लास के मामले में भी वह लागू हो जायेगा।

जहाँ तक ब्रिटिश का प्रश्न था, वे भी यह जानते थे कि हिंदुओं ने हिंदू होने के बावजूद दलितों को मुख्यधारा से अलग करके रखा है। कांग्रेस और गाँधी उनके खिलाफ थे। ब्रिटिश देश में राज करना चाहते थे। डॉ. अंबेदकर का भी उद्देश्य सीमित था। दलितों की अस्पृश्यता और सवर्णों की गुलामी से मुक्ति। देश की आज़ादी का उनके लिए तब तक कोई मतलब नहीं था जब तक उस दबे–पिछड़े वर्ग को सवर्णों की निरंकुशता से मुक्ति न मिले। इसलिए सत्ता उनके साथ भी थी और वे उसके अंग भी थे। दूसरी बात थी, अंग्रेज़ शायद सोचते थे कि हिंदू सबसे बड़ा वर्ग है। वे उसे बाँटने में कामयाब हो गये तो वे वहां बने रहेंगे। डॉ. अंबेदकर भले ही उनके साथ हों परंतु वे देश के बँटवारे के उस रूप में उसका अंग नहीं हो सकते थे जिस रूप में मुस्लिम लीग थी। यद्यपि उन्होंने पाकिस्तान बनने का समर्थन किया था। वे दलित और सवर्ण हिंदुओं के नाम पर देश के बँटवारे के पक्ष में भी नहीं थे, ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलता। बाद में डॉ. अंबेदकर ने गाँधी जी के कहने पर देश का विधि मन्त्री पद स्वीकार किया और संविधान बनवाया। जो लोग यह कहते हैं कि अंग्रज़ों के दबाव में आज़ाद हिंदुस्तान का विधि मंत्री पद दिया गया था वे उनकी और उनकी कुशाग्रता की अवमानना करते हैं। वैसे भी दलित वर्ग का इतिहास कभी देशद्रोह का नहीं रहा। देशद्रोह भी किया तो सवर्णों ने। इसलिए यह सोचना गलत होगा कि 'कम्यूनल अवार्ड' के बाद अंग्रेज़ हिंदुस्तान का एक और बँटवारा करने में कामयाब हो जाते। डॉ. अंबेदकर ने धर्म–परिवर्तन की बात भले ही कही हो परंतु देश के बँटवारे की बात कभी नहीं की। वह भी दलितों के संदर्भ में। धर्म–परिवर्तन में भी उन्होंने एक बात का ध्यान रखा कि जो धर्म वे अपनायें वह इस धरती से जन्मा हो। अपने ही देश के एक धर्म से दूसरे धर्म में जाना, एक घर से दूसरे घर में जाने से अधिक कुछ नहीं। यह विचित्र बात है कि उनके

इस निर्णय को शंका की दृष्टि से देखा जाता है। उस स्थिति को नहीं देखा जाता जिस कारण उन्होंने ऐसा किया।

जहाँ तक 'कम्यूनल एवार्ड' का प्रश्न है यह एक तकलीफदेह संदर्भ है। गाँधी का दृष्टिकोण था कि अस्पृश्यता के विरुद्ध जनमत तैयार हो रहा है। हृदय परिवर्तन की प्रक्रिया शुरू हो चुकी है। यदि 'डिप्रेस्ड क्लास' को अलग कर, मताधिकार मिल गया तो अस्पृश्यता के विरुद्ध बनता वातावरण खत्म हो जायेगा। जातीय हिंदू पहले से दलितों को सताते रहे हैं, वे इस काम को और अधिक बदले की भावना से करेंगे। आज दलित ज़्यादा समर्थ हैं और संघर्षशील भी तब स्थिति बिल्कुल भिन्न थी। उस पूरे जज़ीरे में एक ही चट्टान नज़र आती थी, वे थे डॉ. अंबेदकर। भले ही डॉ. अंबेदकर के लिए उस समय वह उतना महत्त्वपूर्ण मुद्दा न हो परंतु देश आज़ादी पाने के लिए लालायित था। उसे रोकना एक बहुत बड़े अंतर्संघर्ष को जन्म दे सकता था। वह न दलितों के हित में होता और न सवर्णों के। उसका लाभ अंग्रेज़ सरकार को मज़बूत बनाने की तरफ़ जाता। गाँधी न अस्पृश्यता के मुद्दे को अपने से अलग कर सकते थे और न आज़ादी के सवाल को। उधर अस्पृश्यता के मुद्दे पर देश में विरोध हो रहा था। 1933 में विट्ठल भाई पटेल और नेताजी सुभाष चंद्र बोस जैसे देशभक्तों ने वियना से तार भेजकर अपने को उनके इस आंदोलन से अलग कर लिया था। 'इंटरनेशनल कम्यूनिस्ट स्टुडेंट डेपुटेशन', लंदन, ने 1931 में एक साक्षात्कार छापा था जो गाँधी का बताया जाता था। उसके आधार पर गाँधी की छीछालेदर करने की कोशिश की गई थी। बाद में वह 30 जनवरी 1994 को 'मेनस्ट्रीम' में छपा था। जवाहरलाल नेहरू जैसे गाँधी के विश्वसनीय सहयोगी ने उन्हें जेल से लिखा था ''इसमें ऐसी क्या बुराई है, अस्पृश्यता तो दुनिया भर में है।'' यह उनका भले ही ब्राह्मणीय कथन न हो परंतु अस्पृश्यता आंदोलन के साथ कदापि नहीं जाता था। हालाँकि बाद में उन्होंने उसे सुधारा भी। गाँधी अपने अस्पृश्यता वाले आंदोलन में उसी तरह अकेले पड़ गये थे जिस तरह देश के बँटवारे के सवाल पर अकेले पड़ गये थे। गाँधी एक नितांत विरोधी और विषम वातावरण में अस्पृश्यता के खिलाफ लड़ाई लड़ रहे थे।

गाँधी का मानना था ''यह 'हैव्ज़ और हैव नॉट्स' की लड़ाई है। अगर दोनों के बीच संघर्ष हुआ तो मुझे डर है कि ये सब इन लाखों गूँगे, दबे लोगों पर पिस्तौल तान लेंगे और कहेंगे कि तुम्हारी सरकार तब तक नहीं बनने देंगे जब तक तुम हमारे अधिकारों और मिल्कियत का समर्थन नहीं करोगे।''

इस तरह के युद्ध का विरोध करने या उसे लड़ने के लिए न तो कांग्रेस के पास कोई तैयारी थी न दलितों के पास। इसका लाभ शासकों को ही मिलना था। बंदर फिर रोटी ले जाने की फ़िराक में था। विदेशी सरकार की, देश और देश के लोगों की बहबूदी में न्यूनतम रुचि थी। 19 नवम्बर 1931 में हुई गोलमेज कांफ्रेंस में डॉ. अंबेदकर का जिन्होंने समर्थन किया, वे भी वही लोग थे जो विशेषा–धिकारों का उपभोग कर रहे थे। उनमें से बहुतों ने तो आम आदमी को अच्छी तरह देखा भी नहीं होगा। वे कभी भी बदल सकते थे। जिस गाँधी पर जातीय हिंदुओं द्वारा पुणे में बम फेंका गया बाद में उसी वर्ग के एक युवा ने उसकी हत्या की। वह वर्ग विशेषाधिकार संपन्न और अलगाववादी वर्ग की शह पर क्या नहीं कर सकता था। गाँधी बलि चढ़े तो क्या दूसरे लोग बलि नहीं चढ़ सकते थे, जो उनके बृहत्तर हितों में बाधक होते? 'कम्यूनल एवार्ड' को न मानना, स्वाभाविक है डॉ. अंबेदकर के लिए दुखद था। इसी घटना ने पूरी अंबेदकर धारा को और ज़्यादा शिद्दत के साथ गाँधी के विपरीत दिशा में मोड़ दिया। हालाँकि गाँधी और अंबेदकर दोनों इस पक्ष में थे कि दलित वर्ग का आत्मसम्मान पुनर्स्थापित हो, उन्हें राजनीतिक 'एम्पावरमैंट' में हिस्सेदारी मिले।

गाँधी 'कम्यूनल एवार्ड' के खिलाफ आमरण उपवास के कारण खलनायक हो गये। उन्होंने उसे लागू करने के लिए क्यों सत्याग्रह नहीं किया? यह सही है अगर गाँधी आमरण उपवास न करते तो मुस्लिम और सिक्खों के साथ दलित वर्ग उस 'कम्यूनल अवार्ड' के तीसरे हिस्सेदार हो गये होते। डॉ. अंबेदकर चिंतित थे कि जातीय हिंदू अपने पक्ष के दलितों को चुनाव में खड़ा करके अपना वर्चस्व बना कर रख सकते हैं। उसकी 'कम्यूनल एवार्ड' में भी गुंजाइश थी। मुसलमान और सिक्खों के साथ एक अतिरिक्त लाभ था। उनके बीच

अपेक्षाकृत अधिक शिक्षा थी और धार्मिक समन्वय था। लेकिन यहाँ एक ही धर्म के दो वर्ग आमने–सामने होते। शायद यह भी कारण हो कि डॉ. अंबेदकर ने दलितों के लिए बौद्ध धर्म में जाने का रास्ता खोला। जिस प्रकार का कट्टरवाद था उसके कारण 'कम्यूनल एवार्ड' अराजकता उत्पन्न कर सकता था। लेकिन परिवर्तन के साथ यह संभावना हमेशा रहती है। जब मंडल कमीशन की रिपोर्ट लागू की गई उस समय भी इस तरह की स्थिति उत्पन्न हुई थी। उस समय की अराजकता अंग्रेजों के पक्ष में जाती जिसके लिए देश कदापि तैयार न होता और अंबेदकर भी शायद नहीं।

एक बात इस संबन्ध में रेखांकित करने योग्य है। कहाँ तक उपयुक्त है कहाँ तक नहीं, यह बात अलग है। पाकिस्तान में भी हिंदुओं के लिए आरक्षित सीटें हैं। हिंदू ही चुने जाते हैं और हिंदू ही मतदान करते हैं। लेकिन हिंदू मतदाता भी और चुने गये प्रतिनिधि भी मुख्यधारा से बाहर हैं। उनका राजनीति में हस्तक्षेप न्यूनतम है रम्ज़े मैकडोनॉल्ड द्वारा स्वीकृत एवार्ड का स्वरूप क्या होता यह तो कहना कठिन है लेकिन अगर कुछ ऐसा ही होता तो दुखद होता। वैसे भी इतने बड़े देश में 'कम्युनल एवार्ड' के अंतर्गत जितनी सीटे दी गई थीं वे सत्ता में उनकी उपस्थिति कितनी महसूस करातीं यह कहना कठिन है। इस बात को डॉ. अंबेदकर ने भी माना था कि समझौते के अंतर्गत जितनी सीटें मिलीं, उतनी सीटों की उन्हें आशा नहीं थी। उसने आरक्षित दलितों के लिए आरक्षित सीटों की उपस्थिति को सदनों के लिए महत्त्वपूर्ण बना दिया। वैसे भी मताधिकार की दृष्टि से दलित वर्ग आज निर्णायक स्थिति में है। हिंदू कट्टरतावाद का प्रतिनिधित्व करने वाली सरकार आज उत्तर प्रदेश में अंत्यजों को लगभग चालीस हज़ार नौकरियाँ देने को उतावली है। भले ही उसके पीछे वोट की राजनीति हो। इस बात को नज़रअंदाज़ नहीं किया जा सकता कि डॉ. अंबेदकर जैसा विद्वान और दलित अधिकारों के प्रति प्रतिबद्ध व्यक्ति किसी भी प्रस्ताव को बिना 'हित–पक्ष' का विश्लेषण किये मानने के लिए तैयार नहीं हो सकता था। वे कानून के ज्ञाता होने के साथ प्रस्ताव की दूरगामी बारीकियों को भी समझते थे। अंबेदकर को अगर उस समझौते को मानने का श्रेय जाता है तो

गाँधी का अपने जीवन की बाज़ी लगाकर उसे पेश करने का। यदि गाँधी मनवाने के दोषी हैं तो अंबेदकर पर उसे मानने का दोष भी आयद हो सकता है। लेकिन ये दोनों बातें निर्मूल हैं। गाँधी और अंबेदकर ने दलित वर्ग के आत्मसम्मान की सुरक्षा की दृष्टि से और देश के हित में यह समझौता किया था। दोनों के अड़ियल व्यक्तित्व थे। वे किसी भी न्यायविहीन दबाव में कभी नहीं आ सकते थे।

इस बात का श्रेय हिंदू गाँधी और दलित अंबेदकर दोनों को जाता है कि आज दलित या अनुसूचित जातियों का बहुत बड़ा हिस्सा ज़्यादा गतिशील है तथा देश के अभिशासन में ज़्यादा महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है। आज उनमें इतना गौरव है कि वे किसी राजनीतिक, जातिमूलक समुदाय या संगठन के पीछे चलने के लिए बाध्य नहीं हैं। अंबेदकर की आवाज़ पर यदि दलितों में चेतना आयी तो गाँधी ने जातीय हिंदुओं को बाध्य किया कि वे अभिशासन में दलित वर्ग की हिस्सेदारी को मानें। उन्हें इस बात का एहसास कराया कि जो सदियों से चला आ रहा है यह अब नहीं चलेगा। अंबेदकर भी इस बात को कहते थे। परंतु इस बात को गाँधी ही मनवा सकते थे। उसके लिए उन्हें बहुत कुछ सहना पड़ा। जो लोग गाँधी की भूमिका को नज़रअंदाज़ करना चाहें कर सकते हैं। यही बात अंबेदकर के साथ भी है। ऐसा करके न गाँधी को समझा जा सकता है और न अंबेदकर को। 'पूना समझौता' उस समय हुआ जब देश सिविल वार में धकेला जा सकता था तथा देश आज़ादी से भी हाथ धो सकता था। यह उनकी व्यावहारिक बुद्धि थी जिसने देश को बचा लिया। दलितों के सम्मान पर भी आँच नहीं आने दी। गाँधी के योगदान को हम उसी तरह नकारने की गलती कर सकते हैं जैसे जातीय हिंदू वर्ग ने दलित संघर्ष के इतिहास को नकार कर की। आज आधा–अधूरा इतिहास ही देश के सामने है। एक पूरा सक्रिय वर्ग उससे गायब है। गाँधी डॉ. अंबेदकर की नाराज़गी को इसीलिए तर्क संगत मानते थे क्योंकि सदियों तक दलित वर्ग को शून्य की स्थिति में जीने के लिए बाध्य किया गया था। उनकी व्यथा और तर्क को उस दलित वर्ग की व्यथा और तर्क मानकर, गाँधी अपने को हिंदू परंपरा से अलग करते गये।

परिशिष्ट

हिंद स्वराज : विखंडन और संरचना

गाँधी एक ऐसी चिड़िया है जिसके पंखों में अनेक रंग हैं। चिड़िया का स्वभाव होता है कि अपने रंगों में से किसी भी रंग को छोड़कर बाकी रंगों के साथ उड़ने में विश्वास नहीं करती। वह एक रंग को दूसरे रंग को साथ मिलाती भी नहीं। उसके अस्तित्व के लिए सब रंगों की जरूरत समान होती है। भले ही सामयिक दृष्टि से महत्व बदलते रहें। किस पंख को वह किस रूप में कब खोले यह उसके अपने निर्णय पर निर्भर होता है। अगर एक भी रंग को वह गिरा दे तो उसका व्यक्तित्व अधूरा तो होगा ही, उसके लिए स्वाभाविक रूप से उड़ना भी संभव नहीं होगा। बावजूद अनेक आलोचनाओं और भर्त्सनाओं के गाँधी ने अपने किसी भी रंग को अपने से अलग नहीं किया। अगर दूसरों को कोई रंग मनभावन नहीं लगा या खटका उसे भी उन्होंने उसी तरह संजोकर रखा जैसे अन्य लुभावने रंगों को . . .! यह उपमा मैं यह जानते हुए दे रहा हूँ कि व्यक्ति और चिड़िया में अंतर होता है। लेकिन कई बार उस व्यक्ति के लिए कोई उपमा समझ नहीं आती जो व्यक्ति अपने देश और समाज की बहबूदी के बारे में अलग–अलग कोणों से सपने देखता है और उनको चरितार्थ करने के लिए विचारों में उड़ते हुए अपनी क्रियाशीलता के ज़रिये ज़मीन से जुड़ा रहता है। बिना कल्पनाशीलता को व्यावहारिकता से जोड़े किसी भी व्यक्ति और समाज का पाठ पूरा नहीं होता। पूरा होना तो अलग है उसका स्वरूप तक नहीं बनता। गाँधी ने अपने रंगों को आकाश से न लेकर ज़मीन से लिया था। *हिंद स्वराज* उस चिंतन और व्यावहारिकता का साक्ष्य है। इसमें चिंतन–बिंदु, कल्पना और आलोचना का समिश्रण है। यह बात अलग है कि उस

व्यावहारिकता का उपयोग गाँधी के अलावा किसी के लिए संभव नहीं हुआ।

गाँधी की मुख्यतः तीन मौलिक रचनायें हैं। *हिंद स्वराज* (1909), *आत्मकथा* (1925), *अफ्रीका में सत्याग्रह* (1924)। 20 पृष्ठ की एक डायरी भी है जो उन्होंने लंदन की प्रथम यात्रा के समय छात्र के रूप में लिखी थी। रचनात्मकता की दृष्टि से वह महत्त्वपूर्ण साहित्यांश है। उपरोक्त तीनों ग्रंथों को पढ़ते समय एक बात निरंतर महसूस होती है कि वे समाज हो या अनुभव या फिर उनका अपना जीवन सबको उन्होंने एक 'पाठ' (टेक्स्ट) की तरह लिया है। उनमें एक तरह की निर्व्यक्तिकता का समावेश है जो अच्छे 'पाठ' की गुणवत्ता साबित करता है। अगर हिंद स्वराज की बात करें तो वह गाँधी के लिए भी और उनके समीक्षकों के लिए भी अपने में एक महत्त्वपूर्ण 'पाठ' है। गाँधी थोड़ा आगे बढ़ कर देश और उससे जुड़ी राजनीतिक और सामाजिक स्थितियों का विखंडन करते हैं। मैं किसी तकनीकी दृष्टि से विखंडन शब्द का इस्तेमाल नहीं कर रहा। अगर शैक्षिक या एकडेमिक नज़रिये से भी देखा जाय तो 'पाठ' दो तरह के माने जाते हैं। एक साहित्यिक पाठ और दूसरा ग़ैर–साहित्यिक पाठ। गाँधी की डायरी को छोड़कर शेष सभी गैर–साहित्यिक पाठ की श्रेणी में आते हैं। इनकी यह विशेषता है कि गाँधी समकालीन, पूर्वानुभव तथा भविष्य के संदर्भ में घटनाओं, अनुभवों और स्थितियों का विखंडन करके फिर एक–एक रेशे को जोड़कर उसकी पुनर्संरचना करने का प्रयत्न करते हैं।

हिंद स्वराज को पढ़ते समय अलग–अलग तरह के अनुभव होते हैं। वैचारिक भी और व्यावहारिक भी। कुछ का संबंध गाँधी के युग और उनके अतीत से भी है, और हमारे वर्तमान से भी। उनके अपने आत्म–विखंडन के साथ उसे सामाजिक और राजनीतिक विखंडन भी कहा जा सकता है। आप यह कह सकते हैं 'प्रश्नोत्तरी' की परंपरा बहुत पुरानी है। *रामचरितमानस* से लेकर *योग वशिष्ठ* तक। *महाभारत* में तो 'यक्षप्रश्न' का खास महत्त्व है। याज्ञवलक्य संवाद है। लेकिन *हिंद स्वराज* का प्रक्षेपण बिल्कुल अलग है। वह न उस तरह धार्मिक है न आध्यात्मिक। उसका जुड़ाव समाज और उसकी

व्यवस्था और अव्यवस्था से है। इसमें व्यक्ति के द्वारा अपने अंतर्मन, सोच और अपने हालात का स्वयं अपने ही माध्यम से विखंडन होता नज़र आता है। गाँधी 'रीडर' यानि पाठक भी हैं, और संपादक यानी व्यास पीठ पर बैठे अपने प्रवक्ता भी वे स्वयं हैं। यह विचित्र बात है कि वहाँ न पढ़ने के लिए कुछ है और न वह पाठ है जिसके संपादक के रूप में गाँधी वहाँ बोलते हैं। दोनों काम वाचक परंपरा में संपन्न होते हैं। गाँधी उस पूरे संवाद को अपने मन में संजोकर पाठ के रूप में उसके विखंडन की कल्पना करते नज़र आते हैं। उस विखंडन, आप उसे विश्लेषण कहना चाहें तो ज़रूर कहें मुझे कोई एतराज नहीं, के दो माध्यम हैं एक गाँधी स्वयं दूसरे उनका 'पाठक'। वह भी वे स्वयं हैं। जैसा कि पहले भी संकेत किया गया है कि अन्य परंपरागत धार्मिक 'पाठालोचना' की तरह न उसमें महान या उदात्त नायक हैं और न आध्यात्मिक प्रश्न ही उठता है। समाज, राजनीति, शिक्षा, साम्प्रदायिकता, सभ्यता, देश, शक्ति आदि विषय हैं जो उनके समय में प्रासंगिक थे। आज तो और भी ज्यादा हो गये। गाँधी उन स्थितियों का विखंडन पाठक के माध्यम से करते हैं और उत्तरों का समायोजन भी वे स्वयं करते हैं। उसका लाभ उन्हें यह मिला कि वे अपने को साथ–साथ पछोरते गये हैं। यह 'संवाद' गाँधी को अपने समय को समझने में मदद तो करता ही है साथ ही अपने आपको खंगालकर उन अंतर्मुखी शंकाओं को भी सामने लाता है जिन्हें हर आदमी अपने अंदर उसी तरह जीता है जिस तरह गाँधी का पाठक! कोई भी पाठ अपने आप में सम्पूर्ण नहीं होता। कुछ बिंदु जो महत्त्वपूर्ण होते हैं या लगते हैं ले लिये जाते हैं, कुछ छूट जाते हैं या छोड़ भी दिये जाते हैं। एक विचित्र बात है हरिजन–उद्धार का प्रश्न जो गाँधी के हृदय के बहुत नज़दीक था, *हिंद स्वराज* में अनुपस्थित है। जब कि जनजातियों के बारे मे टिप्पणी मौजूद है। मेरे कहने का तात्पर्य है कि इसका अर्थ यह नहीं कि जो छूट गया उसका कोई महत्त्व नहीं। इससे यह बात भी साबित होती है कि पाठ को समझने या उसके विखंडन की कोई भी प्रक्रिया अंतिम नहीं होती। न पड़ताल के लक्ष्य को ही अंतिम रूप से पूरा करती है। *हिंद स्वराज* के संदर्भ में यह मान्यता काफी हद तक लागू होती है।

वह भूत, वर्तमान और भविष्य सब स्थितियों में से एक डोरी की तरह गुज़र जाता है। उसके विखंडन की अनंत संभावना है और आगे भी शायद मौजूद रहे। *हिंद स्वराज* एक समाजशास्त्रीय पाठ है इसलिए यह बात और भी ज्यादा प्रासंगिक हो जाती है।

महादेव देसाई ने 1938 के संस्करण की भूमिका के पहले ही वाक्य में लिखा है कि यह (हिंद स्वराज नंबर) अपनी परिकल्पना और कार्यान्वयन में विलक्षण है। श्रीमती सोफिया वाडिया ने इस नंबर को निकालने की योजना को क्रियान्वित किया था। 'हिंद स्वराज' को समझने और जानने की प्रक्रिया को अंतहीन विकास के रूप में लिया गया था। *हिंद स्वराज* जिस प्रकार अपने को खोल रहा है और शायद आगे भी खोलेगा उससे लगता है कि यह बात उस पर पूरी तरह लागू होती है कि वह अंतहीन संभावनाओं से पूर्ण पाठ है। किसी भी पाठ के पाठालोचन की विश्वसनीयता की कसौटी उसके विखंडन की संभावना और उसकी व्याख्याओं का परिवर्धन होती है। समाजशास्त्रीय पाठ के संदर्भ में यह बात तभी सही सिद्ध हो सकती है या होती है जब वह एक बिंदु पर खड़ा होकर अपना प्रक्षेपण आगे पीछे दोनों तरफ कर पाने की सामर्थ्य अर्जित कर लेता है।

हिंद स्वराज में अनेक बिंदु हैं जो समकालीनता को व्याख्यायित करने में सहायक हैं। अनेक छूट भी गये हैं। वे सब बिंदु लगभग नौ दशक पूर्व उठाये गये थे, जैसे कांग्रेस, बंगाल का बँटवारा, असंतोष और अशांति, स्वराज क्या है? इंग्लैंड का हाल, सभ्यता, हिंदुस्तान कैसे गया? भारत की दशा? रेल, हिंदू और मुसलमान, वकील, डाक्टर्स, सभ्यता क्या है? भारत को आज़ादी कैसे मिले? इटली और भारत, पाश्विक शक्ति, सत्याग्रह (पेस्सिव रेजिसटेंस), शिक्षा, मशीन आदि। ये सब प्रश्न जितने उस समय प्रासंगिक थे कुछ को छोड़कर अधिकतर आज भी उसी तरह प्रासंगिक हैं। प्रश्न है कि *हिंद स्वराज* पाठ अपने को वर्तमान संदर्भ में कैसे व्याख्यायित करता है? शायद इसीलिए गाँधी इस संवाद में 'एडिटर', इस पाठ का सृजक है और 'रीडर' समीक्षक (क्रिटीक) है। जैसा पहले कहा दोनों गाँधी स्वयं हैं। पाठ मात्र वक्तव्य नहीं है। वक्तव्य से जुड़े और उससे निकलने वाले सवालों का व्याख्याता भी है। वे सब सवाल

जो पाठक उठाता है, 'सृजक' यानी 'एडिटर' के लिए यक्ष प्रश्न की तरह हैं। उनके जवाबों में प्रवक्ता की प्रतिबद्धता भी है और आलोचनात्मक प्रज्ञा का विकास भी। सवालों और उत्तरों में अनेक पाठकों को अटपटापन भी लग सकता है। लेकिन कोई भी ज्ञान प्रश्नों के द्वारा ही संभव होता है। पाठ जब तक प्रश्नों के उत्तर नहीं देता तब तक इसकी क्षमता का आकलन करना संभव नहीं होता। पाठक 'रीडर' को कोंचकर अपने प्रश्नों के उत्तर पाने की प्रक्रिया का प्रतीक है। यानी उसका अपना आत्ममंथन। वरना न पाठ की प्रासंगिकता साबित हो सकती थी और न तार्किकता। इसी से यह बात भी जुड़ी है कि अनेक उत्तरों को दकियानूसी और तर्कहीन करार दिये जाने के बावजूद गाँधी अपनी मान्यताओं पर अटल रहे। यानी प्रश्नों द्वारा अपना मंथन करके उन्होंने जो पाठ तैयार किया उसके प्रति वे पूरी तरह आश्वस्त थे। लेखक की अपने पाठ के प्रति आश्वस्ति पहली शर्त है। किसी भी पाठ को विखंडित करने के लिए उसमें लेखकीय आस्था का होना भी अनिवार्य है अगर ऐसा न हो तो इच्छित निष्कर्ष निकालना या उस पर पहुँचना संभव नहीं हो सकता। पाठ का स्वरूप भले ही अपरिवर्तनशील हो परंतु उसके अर्थ बदलते रहते हैं। *हिंद स्वराज* का जो अर्थ नौ दशक पूर्व था या जो प्रश्न उस समय समीचीन थे वे अब नहीं हो सकते। अब उन प्रश्नों का संदर्भ भी बदल जायेगा और व्याख्या भी। इसलिए हर पाठ का विखंडन और विश्लेषण स्थायी नहीं, बदलता है। प्रश्नों का चयन भी गाँधी का था और उत्तर भी उनके ही थे। शायद इसलिए क्योंकि जो मुद्दे उनके मन में उलट–पुलट हो रहे थे गाँधी के लिए उनका महत्त्व भी था और तत्कालीन आधुनिकता के संदर्भ में उन के खतरे भी थे। उनकी प्रासंगिकता और स्पष्टता पर सवाल लगना स्वभाविक था और एक हद तक लगा भी। गाँधी आत्मसंवाद की उस प्रक्रिया से गुज़रने के बाद ही अपने निष्कर्षों पर इतने अटल रहे कि तमाम आलोचनाओं और प्रतिरोधों के बावजूद उन्हें बदलने की जरूरत नहीं समझी। किसी भी पाठ को वैचारिक स्तर पर या प्रत्यक्ष रूप से विखंडित करने से पूर्व उस पर 'क्रिटिक' की पकड़ जरूरी है। गाँधी सम्पूर्ण परिदृश्य को पाठ के रूप में मानकर उसका विखंडन भी

करते हैं और प्रश्नोत्तरी द्वारा उसे लिपिबद्ध भी करते हैं। इसलिए वे अपने आप को इस आरोप से बचा लेते हैं कि जब पाठ नहीं हो विखंडन कैसा। गाँधी के विखंडन की प्रक्रिया यहाँ बिल्कुल भिन्न है। वे विचारों का विखंडन करते हैं और उसी से उनका पाठ तैयार होता है। इस प्रक्रिया ने अपने वैचारिक विश्लेषण पर भी गाँधी की पकड़ मज़बूत की और उनके द्वारा तैयार पाठ को भी एक अर्थवत्ता प्रदान की। *हिंद स्वराज* का जो अर्थ उस समय लिया गया था जब वह लिखा गया आज वह अर्थ नहीं है। उस समय जिन प्रश्नों ने *हिंद स्वराज* के पाठ को बनाने में सहायता की थी उससे जुड़े आज अनेक प्रश्न ऐसे हैं जो उस पाठ को नये तरह से परिभाषित करने में सहायक हो सकते हैं। वे उन्हें समकालीन परिस्थितियों के साथ जोड़ें या ना जोड़ें लेकिन सकारात्मक और नकारात्मक दोनों तरह से व्याख्यायित करने में सहयोग अवश्य करेंगे। पाठ का वाचन, उसकी व्याख्या, विश्लेषण और जरूरत पड़े तो पुनर्लेखन – इस सम्पूर्ण प्रक्रिया को आप विखंडन भी कह सकते हैं। गाँधी ने अपने विचारों का विखंडन करके यह पाठ तैयार किया। इसका पुनर्विखंडन नई समझ बनाने में शायद ज़्यादा मददगार है।

हिंद स्वराज के अंशों पर गौर किया जाय तो शायद इस संदर्भ में गाँधी के विखंडन की प्रक्रिया ज्यादा अच्छी तरह समझी जा सकती है। यह विचित्र बात है कि व्यास पीठ पर आसीन प्रवक्ता किसी भी मुद्दे को स्वयं नहीं उठाता। आज प्रेस कांफ्रेंस में पहले वक्तव्य होता है फिर सवाल–जवाब। हर परिच्छेद का आरंभ जिज्ञासु (रीडर) के सवाल से होता है। यह बात विखंडन की तकनीक की तरफ इशारा करती है। पहले भी इस बात का संकेत किया है कि सामान्यतः पाठ पहले आता है तब विखंडन की प्रक्रिया शुरू होती है। *हिंद स्वराज* की लेखन प्रक्रिया बिल्कुल भिन्न है। विचारों का विखंडन और पाठ–सृजन साथ–साथ चलता है। उत्तर से पहले शंका। फिर उत्तर पर शंका। यानी सम्पूर्ण वैचारिक ढाँचा विखंडन से ही बना है।

पहले परिच्छेद का प्रश्न यह मानकर चलता है कि पूरे देश में 'होम रूल' की लहर आई हुई है। सभी देशवासी आज़ादी चाहते हैं। यह सवाल भारत तक ही सीमित नहीं। दक्षिण अफ्रीका को भी

उसमें समेटा गया है। भारत अधिकार पाने के लिए उतावला है। आपकी यानी पीठासीन प्रवक्ता की इस बारे में क्या राय है? यह पहले सवाल का ढाँचा है।

1909 में जब *हिंद स्वराज* लिखा गया भारत में 'होम रूल' की बात चल रही थी। गाँधी उस समय दक्षिण अफ्रीका में थे। उनका उस आंदोलन से मानसिक जुड़ाव भले ही हो पर प्रत्यक्ष और व्यावहारिक संबंध ज़रा भी नहीं था। दक्षिण अफ्रीका में भी नेटाल कांग्रेस बन चुकी थी और वहाँ भी भारतीयों के अधिकारों की बात चल रही थी। उसे भी आप अगर छोटे–मोटे 'होम रूल' की संज्ञा देना चाहें तो दे सकते हैं। बोअर और यूरोपियन महाद्वीप के उपनिवेशों का संघ बनने जा रहा था। कोई भी उपनिवेश भारतीयों के समर्थन में नहीं था। दक्षिण अफ्रीका के भारतीयों ने हाजी हबीब और गाँधी जी को अपने प्रतिनिधि मंडल के रूप में लंदन भेजा था। लंदन में पहुँचकर जनरल स्मट्स और बोथा की शर्तों को हबीब साहब ने मान लिया था। गाँधी ने इंकार कर दिया था। गाँधी को लंदन में ही भारत के बदलते राजनीतिक परिवेश का अंदाज़ हो गया था। जॉन मारले यद्यपि बहुत प्रगतिशील माने जाते थे लेकिन भारत का सवाल आते ही उनकी प्रगतिशीलता काफूर हो जाती थी। हिज़मेज़ेस्टी की सरकार में वे ही भारतीय मामलों के इंचार्ज थे। चार महीने की जद्दोजहद के बाद जब हाजी हबीब और गाँधी वापिस दक्षिण अफ्रीका लौटे तो खाली हाथ थे। उसी समय जहाज की यात्रा के दौरान *हिंद स्वराज* व्ही की तरह गाँधी पर तारी हुआ था। क्या यह योजनाबद्ध लिखा गया पाठ है? इस बारे में कुछ भी कहना इसलिए संभव नहीं क्योंकि जिस प्रकार उन्होंने हाथ बदल–बदल कर उसे लिखा था उससे लगता है कि विचित्र प्रकार का भावावेश था जो उनकी असफलता और हिंदुस्तान में हो रहे परिवर्तनों से उपजा था। एक प्रवाह था। गाँधी का मानना था गुलाम देश का हर नागरिक अपने में एक सवाल होता है। सवाल उमड़ रहे थे जिनके आधार पर उन्होंने अपने विचारों का *हिंद स्वराज* रचा। अगर वे उस समय *हिंद स्वराज* न लिखते तो पता नहीं वह भावावेश उन्हें किस तरफ ले जाता? पहला प्रश्न जैसा कि ऊपर कहा गया 'होम रूल' से संबंधित था। हालाँकि दक्षिण

अफ्रीका के वतनी उस बारे में अनभिज्ञ थे। अंत तक पहुँचते–पहुँचते यह सवाल अधिकारों की प्रासंगिकता पर टिक गया। दक्षिण अफ्रीका में उस समय अधिकारों का ही मुख्य मुद्दा था। गाँधी ही उस लड़ाई को लड़ रहे थे।

गाँधी ने इस प्रश्न का सीधे जवाब न देकर उसे अखबारों की भूमिका से क्यों जोड़ा? गाँधी की लड़ाई का माध्यम या तो समाचार पत्र थे या सत्याग्रह। इसलिए उन्होंने जवाब को जन–इच्छा यानी 'विल' की अभिव्यक्ति, उसकी तैयारी, और उनकी अपनी कमियों की तरफ़ मोड़ दिया। शायद यही उनका उद्देश्य रहा हो। अपने जवाब से संतुष्ट न होकर उससे दूसरा सवाल निकल आया। क्या 'होम रूल' की आकांक्षा अखबारों के द्वारा जागृत की गई? गाँधी का जवाब छोटा था – इसी इच्छा ने नेशनल कांग्रेस को जन्म दिया। 'नेशनल' शब्द का कांग्रेस के साथ जुड़ा होना इस बात का द्योतक है। गाँधी को फिर इस उत्तर से संतुष्टी नहीं हुई। एक नया सवाल फिर उठा क्या यह (कांग्रेस) ब्रिटिश साम्राज्य को मज़बूत करने के लिए नहीं है? गाँधी जानते थे कि कांग्रेस के बारे कुछ युवा ऐसा सोचते हैं। 'होम रूल' के बहाने वे देश की राजनीतिक स्थिति को विखंडित करके देख रहे थे। शायद यह जरूरी भी था। उसी स्थिति में यह बात साबित हो सकती थी कि कांग्रेस के साथ नेशनल का जुड़ा होना 'होम रूल' की आकांक्षा का प्रमाण है या नहीं। इस बहाने कांग्रेस से जुड़े ह्यूम, विलियम वेडरबर्न, गोखले, जस्टिस तैयबजी आदि की कांग्रेस के संदर्भ में सकारात्मक भूमिका का विश्लेषण करने का भी उन्हें मौका मिल गया।

एक बात की ओर ध्यान जाता है कि रीडर यानी 'माध्यम' का निडर होकर प्रश्न करना इस बात को भी रेखांकित करता है कि गाँधी अपने आपको प्रश्नों के कटघरे में खड़े करने में ज़रा भी कोताही नहीं करते। यह स्थिति पूरे *हिंद स्वराज* में देखी जा सकती है। गाँधी अपनी शंकाओं और जवाबों की अपूर्णता से स्वयं जूझते हैं। संभवतः हर विचारशील व्यक्ति को इस प्रक्रिया से गुज़रना पड़ता है। यह बात अलग है कि वह 'आत्मसंवाद' पाठकों की शंकाओं का शमन करता है या नहीं। कोई भी पाठ, चाहे वह किसी दार्शनिक

द्वारा तैयार किया गया हो या राजनीतिज्ञ द्वारा, संतुष्ट करने के लिए नहीं होता जितना वह एक आत्माभिव्यक्ति होता है। समाज के संदर्भ में हो या साहित्य को लेकर। कई बार धार्मिक प्रतिबंधों के चलते धर्म संबंधी सवालों को नज़र अंदाज़ किया जाता है, यह करना पड़ता है। 'होम रूल' से संबंधित जितने प्रश्न प्रथम परिच्छेद में उठते हैं उनके उत्तर गाँधी के अंदर होने वाली राजनीतिक उथल–पुथल और उससे बाहर निकलने की बेचैनी को बताते हैं। तथा वे सब अखबारों की भूमिका (वे अखबार को जाग्रति का प्रभावी उपकरण मानते थे), लोगों की संघर्ष के लिए तैयारी, उनकी भावनाओं का संज्ञान और सम्मान, दोष–गुण का विवेचन, आत्मान्वेषण और निर्णय पर पहुँचने की जद्दोजहद से जुड़े हैं।

बंगाल का बँटवारा भी अंग्रेजों द्वारा लाये जा रहे सुधारों से उपजा सवाल था। गाँधी का मानना था कि वास्तविक जाग्रति बंगाल के बँटवारे के बाद आयी। गाँधी उसके लिए लार्ड कर्ज़न को धन्यवाद देते हैं। पाठ का एक यह भी पक्ष होता है जो उसमें कहा जाता है, वह वही नहीं होता जो कहा जाता है। लार्ड कर्ज़न उस बँटवारे के खलनायक थे। लेकिन गाँधी उसे नायक की तरह धन्यवाद देते हैं। इसका अर्थ पाठ के अंदर झांककर या कहिये शब्द संयोजन को तोड़कर समझना पड़ता है। अगर कर्जन बँटवारा न करता तो देश जागता कैसे? यही बात उसे खलनायक से बदलकर नायक के रूप में धन्यवाद का पात्र बना देती है। गाँधी धन्यवाद देकर खामोश नहीं हो जाते बल्कि बंगाल के बँटवारे को ब्रिटिश साम्राज्य के बँटवारे की पूर्व–पीठिका के रूप में देखते हैं। यदि इस वाक्य का ही विश्लेषण करें तो इसमें दो बातें हैं, एक तो इसका संबंध राजनीतिक भविष्यवाणी से है जो कई दशक के बाद यानी 1947 में सच साबित होती है। वही ब्रिटिश साम्राज्य की टूटने और ब्रिटेन के साथ जुड़े 'ग्रेट' शब्द के पिघलकर या लघु या 'स्माल' होते जाने की शुरुआत है। कहीं न कहीं भारतीयों की एक युद्ध की तैयारी की चेतावनी भी है। जिसे गाँधी 1908 में ही देख लेते हैं। कोई भी पाठ एकांगी नहीं होता। उसके कई आयाम होते हैं। उन आयामों का संवाहक उस पाठ का एक–एक वाक्य होता है। समाजशास्त्रीय पाठ की संभावनायें तो

इस दृष्टि से और भी ज़्यादा होती हैं। कोई भी पाठ किसी इकहरी पहचान या आइडेंटिटी से जुड़ा नहीं रहता। उसके कई 'व्याख्यान' होते हैं। समकालीन, अतीतजन्य, भविष्यगत। हर समकालीनता हर पाठ को अपने नज़रिये से देखती है। इसलिए उसे हर 'व्याख्यान' को इन सभी नजरियों से व्याख्यायित करने की स्वतंत्रता होती है। गाँधी स्वयं अपने सवालों और उत्तर को बार–बार विखंडित करते हैं और व्याख्यायित भी करते चलते हैं। अगर गौर से देखा जाये तो हर 'मैं' दूसरे 'मैं' से अलग है और प्रश्न के रूप में बार–बार सामने आता है। हालाँकि हर 'पाठ' एक ही 'मैं' का उद्‌गम होता है जो बाद में बँटकर अलग–अलग अल्पिकाओं में बहता नज़र आता है। वे सब 'मैं' उसी पाठ में समविष्ट रहते हैं। किसी भी 'मैं' का विखंडन आसान नहीं होता। क्योंकि हर 'मैं' की अपनी स्वायत्तता है। मैं का टूटना एटम टूटने की तरह है। *हिंद स्वराज* ऐसा ही पाठ है। उसका विखंडन किसी एक नतीजे पर नहीं पहुँचाता। केवल सामाजिक विश्लेषण की स्थिति उत्पन्न करता है। विश्लेषण ही समझ का आधार होता है।

हिंद स्वराज में गाँधी एक बहुत चौंकाने वाली बात कहते हैं। विचित्र बात यह है कि वे उसे उसकी सीमाओं के साथ देश के संदर्भ में स्वीकार करके भी चलते हैं। हालाँकि विरोधाभास ही किसी पाठ को बहुआयामी भी बनाता है। विरोधाभास चाहे जो भी हो 'पाठक' के लिए झेलना मुश्किल पड़ता है। वह लेखक को भी नहीं छोड़ता। पाँचवां परिच्छेद भी पाठक यानी जिज्ञासु के प्रश्न से शुरू होता है। वह पूछता है कि इंग्लैंड की सरकार स्वीकार्य नहीं तो हमें उसकी नकल नहीं करनी चाहिये? हालाँकि यह सवाल सीधा–सच्चा अहानिकारक है? लेकिन ऐसा लगता है कि यह प्रश्न गाँधी को तभी से परेशान करने लगा था जब हिंदुस्तान की आज़ादी की दूर–दूर तक कोई संभावना नहीं थी। 1909 में गाँधी के सामने यह सवाल ज़रूर रहा होगा कि अगर देश आज़ाद हुआ तो सरकार का स्वरूप क्या होगा? अगर हल्के–फुल्के ढंग से कहा जाये तो सारे जहाँ का दर्द उस समय भी गाँधी के दिल में था। गाँधी बिना लाग–लपेट के सब से पहले प्रहार सब 'संसदों की माँ' ब्रिटिश संसद पर करते हैं। आपको लगेगा कि उस सवाल से इसका क्या मतलब? लेकिन

शायद है। वे उसे बाँझ बताते हैं जो 'जन' नहीं सकती। इससे भी संतुष्ट नहीं होते तो उसे 'वेश्या' की संज्ञा देते हैं। उनके इस कथन का निरंतर विरोध होता रहा है। हालाँकि यह एक उपमा है। चाहे साहित्य हो या अन्य कोई अनुशासन उपमा का विश्लेषण जरूरी होता है। बिना विश्लेषण किये कोई भी उपमा हास्यास्पद लग सकती है। संसद स्वयं कुछ नहीं कर सकती। क्योंकि वह एक प्रतीक है। जो कुछ वह करती है उसके पीछे दबाव होता है। वह भी चंद लोगों का यानी सत्ताधारी पार्टी, और उसके मंत्रियों का। उसके कारण वह बड़े से बड़े रचनात्मक कार्यक्रम को नज़रअंदाज़ कर देती है। इस बात को दूसरी तरह भी देखा जा सकता है कि हर पाँच साल बाद या बीच में भी सरकार और सत्ता बदलती है। नई सत्ताधारी पार्टी पुरानी नीतियों, निर्णयों और योजनाओं को प्रभावित करती है। वह प्रभावित करना जनहित में है या अहित में, इस बात का विचार सत्ता से जुड़ी संसद के सामने नहीं रहता। दूसरे शब्दों में संसद सत्ताधारी पार्टी के हाथ में डुगडुगी की तरह होती है या उस कागज़ की तरह जिस पर पूर्व–सत्ता कुछ कीड़े–मकौड़े खींच जाती है और नई सत्ता को उसके ऊपर या उसे काटकर अपना मज़मून लिखना होता है।

गाँधी इस तर्क को भी काटते हैं कि संसद जनता या पब्लिक के दबाव में काम करती है। गाँधी के तर्क के दो पक्ष हैं – एक आदर्श पक्ष जहाँ श्रेष्ठतम नुमाइंदे चुनकर संसद में जाते हों, सदस्य बिना वेतन के काम करते हों (आज की तरह वेतन–भत्ते बढ़ाने के लिए जनहित को नज़रअंदाज़ न करते हों), मतदाता शिक्षित हों, निर्णय लेने में गलतियों की गुंजाइश कम हो। उनका मानना है कि ऐसी संसद को किसी तरह के दबाव में काम करने की आवश्यकता नहीं होती। दूसरा पक्ष, सदस्य स्वार्थी और मिथ्याचारी हों, स्वार्थी और अपना हित देखने वाले हों, जिनके हर काम के पीछे उनके अपने अंदर का भय हो, जो आज का काम कल पर छोड़ देते हैं, सांसद बिना सोचे–समझे केवल पार्टी के हित में मतदान करने के लिए प्रतिबंधित होते हों यानी स्वतंत्र रूप से (मेरिट पर) मतदान करना विश्वासघात की श्रेणी में आता हो जैसा आज भारतीय संसद में शिद्दत के साथ है। वेश्या से गाँधी का मतलब है जिसका कोई

एक स्वामी न हो। हालाँकि स्वामी का अर्थ राजनीति में तानाशाह ही हो सकता है। शायद गाँधी का अर्थ है स्थायित्व। प्रधानमंत्री संसद का मास्टर होता है। परंतु वह संसद का नहीं पार्टी का हित देखता है और निश्चित अवधि के बाद बदल जाता है। उसकी नज़र पार्टी की सफलता पर ही टिकी होती है। एक पार्टी के द्व ारा दूसरी पार्टियों की असफलता या उपेक्षा अस्थायित्व पैदा करती है। उसकी चिंता यह नहीं होती कि संसद जो करे वह ठीक ही हो। प्रधानमंत्री उस रूप में देशभक्त नहीं माना जा सकता कि वह पार्टी के हित से ज्यादा देश के हितों को सामने रखता हो या केवल देशहित को महत्व देता हो। अगर वह ईमानदार भी हो तो उसके ऊपर बहुत से दबाव रहते हैं। कई बार पार्टी के हित में, अपने पक्ष को मज़बूत करने के लिए लोगों को रिश्वत देनी पड़ती है। चाहे सम्मान के रूप में हो या अन्य रूपों में। गाँधी के अनुसार एक प्रधानमंत्री न तो ईमानदार ही है और न उसकी आत्मा ही जीवित है। गाँधी ने शायद ये सब निष्कर्ष ब्रिटिश सरकार और पार्लियामेंट में लिये जाने वाले निर्णयों से निकाले थे। आज हमारी अपनी संसद है तो गाँधी के ये निष्कर्ष हमें अपनी संसद को समझने में कम मदद नहीं करते।

हिंद स्वराज का यह आंशिक पाठ जिस राजनीतिक संस्कृति में हम जी रहे हैं उसके कई पक्षों को उजागर करता है। जनतंत्र के समर्थक गाँधी के इस कथन को जनतंत्र विरोधी मानते हैं। क्योंकि वे उस पाठ को इस मान्यता के संदर्भ में समझने की कोशिश करते हैं कि संसदीय व्यवस्था सबसे बेहतर राजनीतिक व्यवस्था है। गाँधी भी मानते थे। परंतु गाँधी द्वारा 'संसद' की समीक्षा जनतंत्र की समीक्षा न होकर संसद की वास्तविकता पर प्रकश डालती है। यह उस व्यवस्था का विखंडन है। चूँकि गाँधी के सामने संसद का एक आदर्श प्रारूप भी है जिसे वे प्रथम वर्ग में रखते हैं। संसद का दूसरा पक्ष आज की संसदों और उसके कारकुनों पर लागू होता है। एक पूर्व प्रधानमंत्री के ऊपर कुछ सांसदों को रिश्वत देकर अपनी सरकार बनाये रखने के लिए मुकदमा चल रहा है। जबकि मंत्री बनाकर अपनी पार्टी की सरकार बचाने का व्यवसाय संसदों और विधानसभाओं में बखूबी

चालू है। वह शायद रिश्वत से ज़्यादा पुनीत कार्य है। हमारे सांसद स्वहित में जनहित को नज़रअंदाज़ करके, सत्ताधारी पार्टियों और प्रधानमंत्रियों के विरुद्ध बोलने में असमर्थ ही नहीं उनके गलत निर्णयों का समर्थन करने के लिए भी बाध्य है। हर प्रधानमंत्री को विदेशी और आंतरिक दबावों में देश और संसद के हितों को बलिदान करके पार्टी हितों और कुर्सी की रक्षा में गलत–सही निर्णय लेने पड़ते हैं। राजनीति अनेक ऐसे मुद्दों से जुड़ी होती है जिनका संबंध अपनी व्यक्तिगत पहचान यानी आइडेंटिटी से जुड़ा होता है। आइडेंटिटी की जहाँ अनेक विशेषतायें हैं वहाँ एक खासियत यह भी है कि व्यक्तिगत हित सर्वोपरि रहता है। चाहे पार्टी हो या प्रधानमंत्री या सांसद। आध्यात्मिकता और राष्ट्रीय हित उसकी परिधि में होते हैं। परंतु या तो वे राजनीति से प्रेरित होते हैं और अगर उनमें थोड़ी–बहुत सच्चाई हुई भी तो उन्हें बड़े आराम से चूल्हे के पीछे सरका दिया जाता है। गाँधी की ऐसी बहुत सी बातें दकियानूसी करार दी गईं थीं। शायद आज के संदर्भ में और भी ज़्यादा गलत लगें। पर तथ्य ऐसा लगने के विरुद्ध हैं। *हिंद स्वराज* में वैचारिक विखंडन आज के संदर्भ में ज़्यादा सही नज़र आता है।

सभ्यता या 'सिविलाइज़ेशन' के बारे में जब सवाल सामने आता है कि तुमने सभ्यता के बारे में क्या पढ़ा और सोचा? गाँधी का उत्तर विस्तार में है। लेकिन उनकी पहली मान्यता है कि सभ्यता की वास्तविकता यह है कि मनुष्य ने शारीरिक सुख या कल्याण को जीवन का उद्देश्य मान लिया। शारीरिक क्षमतायें कम होती जा रही हैं और उपकरणीय क्षमता बढ़ रही है। बटन दबाकर सुख–सुविधा प्राप्त कर लेना स्वभाव का हिस्सा बनता जा रहा है। 1909 में क्या स्थिति थी यह कहना तो कठिन है लेकिन आज के संदर्भ में यह बात, बावजूद समय की माँग के और सुख–सुविधा में रहने की आदत के पूरी तरह सही है। सुख–सुविधा हो या विध्वंस दोनों ही स्थितियों में 'रिमोट कंट्रोल' मुख्य है। गाँधी का मानना है कि नैतिकता के लिबास में अनैतिकता सिखायी जा रही है। हालाँकि आज नैतिकता और अनैतिकता का प्रश्न अप्रासंगिकता हो गया। लेकिन किसी बर्तन की नैतिकता कितनी भी धो–पोंछ कर रख दी जाय, द्रोपदी के

'शाक–पाक' की तरह वह कहीं न कहीं लगी मिल ही जायेगी। झूठ और भ्रष्टाचार राजनीति की शोभा है। धर्म के नाम पर आतंकवाद, मानव विरोधी अवरोधों को कानूनी तौर पर क्षमा प्रदान करने की जुस्तजू, हज़ारों करोड़ मूल्य के जनधन का नुकसान होने के बाद भी मंत्रियों का सुर्खरूह बने रहना, ... ऐसे कितने ही उदाहरण हैं जो चाहते न चाहते भी सभ्यता की पूरी तरह चपेट में है। लेकिन आज भारत और तीसरी दुनिया के अन्य देश शायद उससे भी बदत्तर स्थिति में है। यहाँ तक कि इस सभ्यता ने सांसदों को भी गुलामी का प्रतीक बना दिया है। *हिंद स्वराज* में एक और चौंकाने वाली टिप्पणी, धार्मिक अंधविश्वासों से ज्यादा खतरनाक हैं आधुनिक सभ्यता द्वारा परोसी जा रही रूढ़ियाँ। गाँधी धार्मिक अंधविश्वासों को बढ़ावा देने के खिलाफ थे। इसी से मिलता–जुलता उनका सवाल था कि क्या फैशन के नाम पर सभ्यता द्वारा निर्मित की जा रही रूढ़ियों को संरक्षण देना चाहिये?

गाँधी भय या आतंक को प्रभावी या शक्तिशाली नहीं मानते। उनका मानना है कि अगर ऐसा होता तो भारत में अंग्रेज़ों के आने से पहले ही लोग भीलों और पिंडारियों के डर से मर गये होते। यह सोचना गलत है कि उन्होंने भारत में आकर भीलों, पिंडारियों और ठगों की मानसिकता को बदला या उसे संस्कारित किया। पौरुषहीन बनने से बेहतर है पिंडारियों के आतंक में जीना। उन्होंने *हिंद स्वराज* में लिखा है कि 'मैं पिंडारियों और भीलों के तीर से मरना ज्यादा पसंद करूँगा बनिस्बत किसी नपुंसक किस्म की सुरक्षा में रहने के। मैकाले ने भारतीयों को डरपोक बताकर अपनी गहन अज्ञानता का परिचय दिया था, हमें किस के लिए 'होमरूल' चाहिये? आखिरकार भील, पिंडारी और ठग हमारे अपने हैं। उनको राह पर लाना मेरी और हम सबकी ज़िम्मेदारी है। जब हम अपने ही भाइयों से डरते रहेंगे हम अपने उद्देश्य में सफल कैसे होंगे?'

गाँधी आधुनिक सुख–सुविधाओं को मनुष्य की आत्मनिर्भरता और स्वतंत्रता का विलोम मानते हैं। 1909 में जब *हिंद स्वराज* लिखा गया वे इस बात को इस रूप में लेते थे कि भारत जैसे देश में इन सब सुख–सुविधाओं को अपनाकर अपनी स्वतंत्रता और स्वायत्तता बनाये

रखने की क्षमता अभी नहीं है। उनका ज़ोर सामाजिक अंतर्संबंधों को मज़बूत करने पर ज्यादा था। दसवें परिच्छेद में हिंदू–मुसलमानों के पारस्परिक संबंधों को लेकर उनकी दृष्टि उतनी ही स्पष्ट है जितनी जनजातियों के बारे में। उनका मानना था देश में उतने ही धर्म हैं जितने व्यक्ति। लेकिन जो राष्ट्रीय चेतना का मतलब समझते हैं उनके जीवन में धर्म किसी तरह का हस्तक्षेप नहीं कर सकता। अगर हिंदू मानते हैं कि भारत हिंदुओं का ही है तो वे सपनों की दुनिया में जी रहे हैं। हिंदू, मुसलमान, पारसी, ईसाई आदि सबने मिलकर भारत को अपना देश माना है। उन्हें आपस में मिल–जुलकर रहना होगा। यह उन्हीं के हित में है। यह भ्रांतिमात्र है कि हिंदू–मुसलमान इसलिए मिल–जुलकर नहीं रह सकते क्योंकि हिंदू अहिंसा में विश्वास करते हैं मुसलमान नहीं करते। यह बात अन्य धर्मों पर भी लागू होती है।

तेहरवें अध्याय में गाँधी की टिप्पणी विचार करने योग्य है। इन्सान का मस्तिष्क एक बेचैन चिड़िया की तरह है। जितना मिलता है उतनी ही उसकी लिप्सा बढ़ती है। भागता दौड़ता है। दौड़ाता है। *हिंद स्वराज* गाँधी के चिंतन का ऐसा आयाम है जो प्रथमदृष्ट्या तो एक उलझा हुआ और रूढ़िवादी संवाद लगता है परंतु समय के साथ अपने आपको खोलता है। हालाँकि डॉक्टर, वकील, रेल आदि विषयों पर उनके विचारों की खिल्लियाँ उड़ायी गईं है। गाँधी के इस पाठ का विश्लेषण किया जाय तो गाँधी राष्ट्रीय अस्मिता, आत्मनिर्भता और आत्मविश्वास की बात करते हैं। वैश्वीकरण का यह बढ़ता हुआ प्रभाव भी लगभग वैसा ही है, जैसा अंग्रेज़ों के आने के बाद इस देश पर गोरी सभ्यता का प्रभाव पड़ा था। अंदरूनी और बाहरी प्रभाव हिंदुस्तान के आत्मविश्वास को तोड़ रहे थे अतः उसकी निर्भरता ब्रिटिश हुकूमत पर बढ़ती जा रही थी।

एक प्रश्न उठता है कि *हिंद स्वराज* में गाँधी ने देश से संबंधित इतने प्रश्नों और प्रतिप्रश्नों पर चिंतन किया है। यहाँ तक जनजातियों के सवाल पर भी उनकी सरोकार गर्भित टिप्पणियाँ हैं परंतु हरिजन (दलित) समस्या का जो उनके हृदय में इतनी नज़दीक थी, जिसके लिए अपनी बा तक का विरोध करते थे, उल्लेख नहीं मिलता। इस

बात का उल्लेख पहले भी हो चुका। जैसा कि ऊपर भी कहा गया कि कोई भी पाठ अपने आप में पूरा नहीं होता। कुछ मुद्दे उठा लिये जाते हैं और कुछ छूट जाते हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि उन मुद्दों का महत्त्व कम है। वे बाद में ज्यादा ज़ोर–शोर से उभर सकते हैं। गाँधी चार महीने बाद राजनीतिक लड़ाई में हारकर लंदन से लौट रहे थे। बंगाल का बँटवारा हो चुका था। ब्रिटिश संसद भारत और दक्षिण अफ्रीका के भारतीयों के अधिकारों के प्रति उदासीन थी। भारत का धन अंग्रेज ले जा रहे थे। बेरोज़गारी थी। समाज के विभिन्न वर्गों के बीच दूरी बढ़ती जा रही थी। सामान्य आदमी चारों तरफ से घिरा हुआ था। बुद्धिजीवी वर्ग 'होम रूल' की माँग कर रहा था। उनके माँगने में शक्ति नहीं, दीनता थी। ये मुद्दे उनके मस्तिष्क को जकड़े हुए थे। कोई भी पाठ जब सृजित होता है या उसका विखंडन होता है तो वही तथ्य महत्व पाते हैं जिनका दबाव सबसे ज़्यादा होता है और संवेदना को झकझोरते हैं। सृजन और विखंडन की प्रक्रिया में रचियता की ओर उससे ज्यादा वाचक की 'सेंसिटीविटी' यानी संवेदना मुख्य होती है। जहाँ पाठ अनुभव से जुड़ता है वहाँ वह गलतफहमियाँ भी पैदा करता है क्योंकि कोई भी पाठ वाचक या समीक्षक की दृष्टि से नहीं तैयार किया जाता। उसकी प्रासंगिकता या अप्रासंगिकता उस पाठ के वाचन और विखंडन के बाद सामने आती है। ये दोनों बातें भी समीक्षक के अपने रुख और एक हद तक समकालीन समझ पर निर्भर करती है। क्योंकि पाठक या समीक्षक अन्य वैचारिक, सामाजिक–राजनीतिक प्रभावों से पूर्णतया मुक्त नहीं होता वह उन सब दबावों के बीच रहकर पाठ का विवेचन करता है। पुनर्संरचना भी इन तत्त्वों से मुक्त नहीं होती। *हिंद स्वराज* की स्थिति भिन्न है इसमें विखंडन वैचारिक स्तर पर हुआ है और पुनर्संरचना लिपिबद्ध करते समय दोनों क्रियायें साथ–साथ चलीं। इसलिए यह एक विलक्षण और विवादास्पद पाठ है।

गाँधी का 'गाँधी' बनना

गाँधी नाम के साथ दंतहीन, अधनंगा, घुटनों तक की धोती पहने, चर्खा चलाता, कृशगात, गोल फ्रेम का चश्मा पहने एक पूर्वात्य किसान का चित्र उभरता है। यह गाँधी का दैहिक विवरण है। जो थोड़ा इससे ज़्यादा आगे जाते हैं वे उनके सत्याग्रह के बारे में जानते हैं। कुछ उनके लम्बे–लम्बे उपवासों का ज़िक्र करते हैं। पद–यात्राओं की बात भी उनके नाम के साथ जुड़ी हुई है। यह भी माना जाता है कि उन्होंने दक्षिण अफ्रीका और भारत की गोरी सरकारों के खिलाफ अहिंसात्मक लड़ाई लड़ी। उपनिवेश विरोधी और वैकल्पिक प्रौद्योगिकी ('आल्टरनेट टेक्नालॉजी') के हामी थे। बहु–संस्कृतिवाद के पोषक थे। वे पहले व्यक्ति थे जिन्होंने महिलाओं को दक्षिण अफ्रीका और भारत में भारतीय अस्मिता और स्वतंत्रता की लड़ाई में बराबर की हिस्सेदारी दी। सत्य के साथ प्रयोग करने के साथ–साथ ब्रह्मचर्य के साथ भी प्रयोग किये। विदेशी विचारकों ने उसे सेक्स के साथ प्रयोग माना है। इस पूरी पृष्ठभूमि के साथ गाँधी का समर्थन और विरोध क्यों?

मार्टिन ग्रीन ने अपनी पुस्तक *गाँधीः वायस ऑफ ए न्यू एज रिवल्यूशन* (पृ. 10) में इस सवाल पर विचार किया है – गाँधी वयस्कों के भी उसी तरह ''अच्छा'' होने में विश्वास करते थे जैसे बच्चों से कहा जाता है अच्छा बनो। अच्छा बनने से उनका मतलब था – भारतीय संतों की तरह इच्छाओं का परित्याग और दूसरे को दुःख न देकर स्वयं वहन करना। बुरा होना उनके लिए पाप और दुष्टता का प्रतीक था। आज ये सब मान्यतायें उपदेशात्मक और कुछ ज़्यादा ही नैतिकतावादी होने के कारण असंगत और अमान्य हो गई

हैं। इन बातों के कारण गाँधी अपनी ही मान्यताओं के ऐसे शिकार नज़र आते हैं जो अपने दुःख–भोग के द्वारा संसार भर पर दबाव बना रहे हों। इसका एक उदाहरण है उपवास और दूसरा बिना विरोध किये लाठी और गोली खाना। यही बात उनकी वेशभूषा, दुबलेपन और उनकी दंतविहीनता पर भी लागू होती है। उनके संतुलित प्रसन्न मुख और ज़िंदादिली से बात करने का ढंग भी उनके जीवन–दर्शन और दूसरे को दुःख पहुँचाने में आनंद लेने की प्रवृत्ति का हिस्सा माना जा सकता है। मार्टिन ग्रीन ने गाँधी को, स्वयं दुःख को जीने वाला और दुःखों से मुक्ति दिलाने वाला बताया है। उनका मत है कि गाँधी ने हमारे सुखवाद का हिस्सा बनना कभी स्वीकार नहीं किया। बौद्धिक या मानसिक स्तर पर भी नहीं। यही कुछ सम्मानजनक कारण हैं जो हमारी धारणाओं में गहरे घुसे हुए हैं।

ऐसा माना जाता है, और है भी, कि गाँधी बज़ातखुद अहिंसावादी और शांतिप्रिय थे। लेकिन कुछ विचारकों ने गाँधी को इस शताब्दी का सबसे बड़ा नाटकीय व्यक्तित्व कहा है। चार्ली चैपलिन से भी ज़्यादा। शायद चार्ली चैपलिन इसीलिए उनसे मिले भी हों। दरअसल नाटकीयता का रचनात्मकता से गहरा रिश्ता है। लेकिन कुछ शब्द ऐसे अभागे होते है। जिन्हें अपनी सम्पूर्ण सार्थकता के बावजूद प्रचलित और नकारात्मक अर्थों के साथ जोड़ दिये जाने के कारण, बदनामी झेलनी पड़ती है। हालांकि यह इस बात पर भी निर्भर करती है कि उस शब्द को कौन और किस अर्थ में इस्तेमाल कर रहा है। गाँधी की यह नाटकीयता एक लम्बे सामाजिक संघर्ष का नतीजा थी। जो भी सामान्य से विशिष्टता की मंज़िल तक पहुँचा है उसमें विशिष्टता के साथ–साथ एक सकारात्मक किस्म की नाटकीयता का भी विकास हुआ है। चाहे वह व्यक्ति राजनीतिक हो या सामाजिक या धार्मिक या फिर साहित्य और कला के क्षेत्र से संबंध रखता हो। मार्टिन ग्रीन ने उपरोक्त पुस्तक की भूमिका में ही लिखा है कि महात्मा गाँधी का नाम अब एक ऐसा नाम है जिसे प्रायः बिना जाने–समझे भी स्मरण किया जाता है तथा कई एक अर्थों में जीसस क्राइस्ट और मदर टेरेसा से समानता रखता है। ये तीनों ही, शायद गाँधी इनमें सबसे ज़्यादा पवित्रता, सद्‌गुण जनित प्रभामंडल, एक

असंभव किस्म की उदारता के अधिकारी हैं। लेकिन दूसरों के मन में अपने प्रति अरुचि और विरोध की भावना भी जगाते हैं। यह भावना हर एक में चाहे न हो लेकिन कुछ लोगों में ज़रूर है। उन्हें मार्टिन ने ''प्रोफेशनल रीडर्स'' की संज्ञा दी है।

फ्रेड्रिक बी फ़िशर एक पादरी थे। उन्होंने अपनी पुस्तक 'देट स्ट्रेंज लिटिल ब्राउन मैन : गाँधी' में भी गाँधी को ''ड्रामेटिक एकस्ट्रीमिस्ट'' बताया है। फिशर ने लिखा है कि जबसे गाँधी ने बकरी का दूध पीना शुरू किया था उसके बाद से उन्होंने अपने को ज़रा भी नहीं बदला। यही बात विश्व के अख़बारों की सुर्खी बन गई। उन्होंने देखा ग़रीब से गलत लगान वसूल किया जा रहा है तो टैक्सबंदी का ऐलान कर दिया। अंग्रेज़ों के विरुद्ध हिंसा की नौबत आई तो अहिंसा का व्रत ले लिया। जब जनांदोलनों में हिंसा शुरू हुई तो आमरण अनशन शुरू कर दिया। किसान की तरह रहने का मन बना तो फिर सब कुछ त्याग कर (खेतों में पानी देने वाले) किसान की तरह ही घुटनों तक की धोती पहननी शुरू कर दी। शायद फ्रेड्रिक फिशर ने इसी को ''नाटकीय अतिवाद'' या 'क्रांतिकारिता' कहा है। व्यवहार की क्रांतिकारिता हिंसा की क्रांतिकारिता से कठिन होती है। इस क्रांतिकारिता के लिए विचार, चिंतन, संतुलन और संकल्प की ज़रूरत होती है। गाँधी की नाटकीय क्रांतिकारिता की पृष्ठभूमि में संभवतः यह पूरी प्रक्रिया है।

गाँधी के बारे में एक बात तो साफ है कि वे न तो पैग़म्बर थे और न देवता। निश्चित रूप से वे चमत्कारी पुरूष भी नहीं थे। सामान्य से भी सामान्य आदमी के रूप में ही उनकी ज़िंदगी की शुरूआत हुई थी। गाँधी एक कमज़ोर, कायर और डरपोक आदमी थे। उनका बचपन ''भय'' की आवृत्ति से शुरू हुआ। आदमी जितना डरपोक होता है उतना ही वह आत्मकेंद्रित हो जाता है और आत्मसुरक्षा उसका सबसे बड़ा सरोकार बन जाती है। वह अपने से बाहर देख ही नहीं पाता। बचपन में उनके भय के कारणों में डाकू, साँप और अँधेरा सम्मिलित थे। डर गाँधी के बचपन का एक मनोवैज्ञानिक सत्य है। हालाँकि डाकू तो शायद की कभी उन्होंने देखा हो, लेकिन किस्से–कहानियाँ भी मनुष्य के मनोविज्ञान का हिस्सा बन कर उसके

भय और साहस को बल देती हैं। भय और साहस कई बार बच्चों के स्वाभाविक विकास में बाधक होने लगते हैं। डर कोई ऐसी ठोस वस्तु नहीं जिसे दिखाया जा सके – देखो यह है डर, इससे बचो। यह है साहस इसे गले लगाओ। सच कहिये तो डर भी खुदा की तरह ही निराकार है। इसका साक्षात्कार वही करता है जो डरता है। उसके सामने रस्सी साँप बन जाती है और अँधेरा एक महाकाय जिन! उसके रहने का कोई ऐसा गोपनीय स्थान भी नहीं जहाँ दबिश डालकर उसे गिरफ्तार किया जा सके। उससे मुक्ति पाने के लिए उसकी पहचान व्यक्तिगत स्तर पर ही ज़रूरी है। उस पहचान के लिए मनुष्य को अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व को खँगालना पड़ता है। गाँधी ने भय के साथ एक लम्बी लड़ाई लड़ी थी। व्यक्तिगत, सामाजिक और राजनीतिक स्तर पर। गुलामी का सबसे बड़ा कारण उन्होंने मनुष्य के अपने भय को ही माना। व्यक्तिगत स्तर पर सबसे पहला ज़िहाद उन्होंने भय के खिलाफ ही छेड़ा।

यह बात विचित्र नहीं है कि डरों में सबसे बड़ा डर 'सच' होता है? सच के अपने खतरे हैं। उन खतरों से बचने के लिए हम सामान्यतः सच को 'करेंसी' की तरह झूठ में बदल देते हैं। गाँधी ने इस वास्तविकता का साक्षात्कार अपने बचपन में तभी कर लिया था जब उन्होनें भाई के कड़े से सोने की चोरी की और पिता को पत्र लिखकर अपना गुनाह स्वीकार किया। साथ ही अपनी शारीरिक अक्षमताओं की पूर्ति के लिए शेख़ मेहताब से मित्रता की। उनके सामने तीन तरह के भय थे – एक काल्पनिक, दूसरा शारीरिक और तीसरा आचरण संबंधी। इन तीनों से मुक्ति का रास्ता उन्होंने 'सच' को ही माना। उसका ख़ामियाज़ा भी भुगता। एरिक एरिक्सन ने गाँधीज़ ट्रुथ मे लिखा है कि अपने सच के कारण ही किशोरावस्था में गाँधी अपने छात्र साथियों से कटा हुआ महसूस करते थे। इसलिए वे व्यक्तिगत संबंध बनाने में विश्वास करने लगे थे। शेख़ मेहताब से मित्रता उसी का नतीजा थी। यह विचित्र बात है कि जिस व्यक्ति ने बाद में चलकर व्यक्तिगत संबंधों को सबसे कम महत्त्व दिया हो और निस्वार्थ सार्वभौमिकता को अपने जीवन का उद्देश्य बनाया हो, वह बचपन में इतना भीरू और व्यक्तिपरक हो कि मित्रता का

आधार अपने स्वार्थ यानी सुरक्षा को बनाये। अपने स्कूली साथियों के साथ वे ऐसे संबंध बनाना पसंद करते थे जिसमें उनको नैतिक श्रेष्ठता का एहसास हो। शायद यह उनकी भीरूता और आत्मपरकता की एक सकारात्मक सामाजिक परिणति थी। उनके साथी उनके साथ कम खेलते थे। अलबत्ता जब उनके बीच झगड़ा हो जाता था तो सुलह–सफाई कराते थे। शांति कायम करना और सच की भूमिका निभाना उन्हें सबसे ज़्यादा पसंद था। कई बार यह भूमिका उन्हें अपने साथियों से अलग–थलग कर देती थी। प्रभुदास गाँधी ने लिखा है कि एक बार अध्यापक के सामने सच कह देने पर मोहनदास के साथी इस बात के प्रति आश्वस्त हो गये कि यह लड़का हमारा साथी बनने या हमारे गोल में रहने के काबिल नहीं है।

राजकुमारी अमृत कौर तीसरे और चौथे दशक में उनकी सेक्रेट्री थीं। गाँधी ने उन्हें स्वयं बताया था कि वे बचपन में मंदबुद्धि थे। लड़कों के समुदाय से बचते थे। जिसका नतीजा था कि अध्यापक वर्ग उन्हें एक समझदार और विवेकशील छात्र तो समझते थे लेकिन मेधावी नहीं। गाँधी ने अपने आपको चुप रहने वाला और शांत भी बताया है। कम बोलने को वे मूल्य मानते थे। शायद यही ग्रंथि मंच पर भाषण देते समय उनके आड़े आ जाती हो। हालाँकि बाद के जीवन में वे विश्व के उन गिने–चुने व्यक्तियों में माने गये जिन्होंने सबसे ज़्यादा भाषण दिये और सबसे ज़्यादा पत्र और अग्रलेख लिखे। उनका कम बोलना बपचन में उनके अपमान का कारण भी बना। हालाँकि उनमें शुरू से ही नैतिक उत्साह और व्यावहारिक कुशाग्रता थी लेकिन अपने निषेधों और झिझक यानी भय के कारण बचपन में वे एक तरह की आंतरिक विकलांगता के शिकार रहे। एक तरफ नैतिक उत्साह और व्यावहारिक कुशाग्रता दूसरी तरफ आंतरिक विकलांगता का अहसास, ये दोनों बातें क्या परस्पर विरोधी नहीं लगतीं? शायद इसी अंतर्विरोध ने गाँधी को अपनी सीमाओं से बाहर आने का रास्ता दिखाया। सबसे महत्त्वपूर्ण बात है कि वे अपनी कमज़ोरियों के प्रति उस समय भी सजग थे जब वे उसके कारण अपमानित हो रहे थे और उनसे निकलने की कोशिश कर रहे थे। शायद वह अपमान ही उन्हें सजग भी कर रहा था। उनके इस अनुभव से एक नतीजे पर

पहुँचा जा सकता है कि अपनी कमज़ोरियों को गुलामी को समझ कर भी उससे मुक्त होने का प्रयत्न न करना स्वतंत्रता की बात करने से तो नहीं रोकता, लेकिन उसका सही रूप में रसास्वादन संभव नहीं हो पाता। शेख मेहताब और मोहनदास गाँधी के संबंधों को लेकर भी एरिक्सन और मार्टिन ग्रीन जैसे जीवनीकारों ने मनोवैज्ञानिक व्याख्यायें की हैं और उन्हें समलैंगिकता की ओर ले गये हैं। लेकिन इसमें कोई शक नहीं कि गाँधी के निषेधों को तोड़ने में उन दोनों की मित्रता का काफी बड़ा योगदान है। हो सकता था, गाँधी जैसा वैष्णव व्यक्ति, शेख मेहताब के जीवन में न आने के कारण, जीवन के उन पक्षों से अनभिज्ञ रह जाता जिनको बाद में गाँधी ने अपने प्रयोगों का माध्यम बनाया। ब्रह्मचर्य खासतौर से। गाँधी का अपने पिता से रिश्ता परम्परागत किस्म का आदर और भय का था। उनके प्रति सम्मान भी था और आंतरिक विद्रोह भी। अपनी माँ पुतली बाई से पिता कबा गाँधी द्वारा चालीस वर्ष की आयु में चौथा विवाह करने की बात वे कभी पचा नहीं पाये। लेकिन पिता की सेवा के मामले में श्रवण का आदर्श हमेशा उनके सामने रहा। उसके लिए उन्हें अपने कालिज के प्रिंसिपल मि. जिमी से दंडित भी होना पड़ा और उनके सच बोलने को झूठ मान लिये जाने के कारण अपमान और ग्लानि के शिकार भी हुए। डर किसी रूप में तब भी उनके साथ था, जब वे छात्र थे। भले ही वह पिता के व्यक्तित्व से निसृत होता हुआ भय हो। नहीं तो हो सकता था भाई के कड़े से सोना चुराने की बात, पत्र द्वारा न कहकर वे सीधे उनसे जाकर कह सकते थे। उनकी माँ पुतली बाई उन्हें कायरता और चुप्पेपन के लिए अक्सर डाँटती थीं। हालाँकि वे स्वयं भी सब कुछ चुप रहकर ही सहन करती थीं। दोस्तों के साथ छिपकर मांस खाने, सिगरेट पीने, भंग का सेवन करने तथा धतूरा खाकर आत्महत्या करने का जीवनीकारों तथा विश्लेषकों ने सामान्य घटना की तरह उल्लेख किया है। लेकिन ये घटनायें उतनी सामान्य नहीं थीं। ये गाँधी के अंतर्द्वंद्व को रेखांकित करने वाली घटनाएं हैं। मार्टिन ग्रीन के अनुसार गाँधी के प्रारंभिक जीवन का यह ड्रामा जिसे हमारे सम्मुख सिर्फ विवरण की तरह प्रस्तुत किया जाता है, ''अच्छा'' बनने की आकांक्षा तथा साहसिक और बहादुर बनने के प्रति उनके

उत्साह के बीच का संघर्ष था। ''अच्छा'' बनने की भावना पारिवारिक, खासतौर से बा से विरासत में मिली थी और साहसी और विद्रोही बनने का जज़्बा पहले अपने बुजुर्गों (पिता और दादा ओता गाँधी) से विरासत में मिला था, बाद में अपने मँझले भाई करसन दास गाँधी और शेख मेहताब के कारण पैदा हुआ था। दरअसल गाँधी अपने बचपन से ही जाने–अनजाने कई मोर्चों पर संघर्षरत थे। भय, निषेध, परिवार की सही–गलत रूढ़िवादी परम्परायें और अपने व्यक्तित्व को इन सबके नकारात्मक प्रभावों से मुक्त करने की जद्दोजहद!

मैडम मॉन्टसरी का मानना है कि बच्चे के आरंभिक पाँच वर्ष उसके निर्माण के वर्ष होते हैं। इन पाँच वर्षों में बच्चे का लगभग 75 प्रतिशत मानस रूप ग्रहण कर लेता है। गाँधी के घर में बाहर की तरफ एक ज़ीना ऊपर जाता था जो अब नहीं रहा। कई बार जब बालक गाँधी बाहर से खेलकर आता था तो उसे ज़ीने से ऊपर जाने में डर लगता था। रम्भा नाम की एक नौकरानी थी जो गाँधी की देखभाल करती थी। मोहनदास उसी को पुकारता था। एक दिन वह काम में व्यस्त थी। मोहनदास ने रम्भा को पुकारा। रम्भा ने कहा राम नाम रटता चला आ। मोहनदास पहले तो रोता रहा लेकिन फिर राम नाम लेता ऊपर पहुँच गया। अँधेरे से डरना और राम नाम लेना, इन दोनों के बीच एक बच्चे के द्वारा साम्य बैठाकर पूरा ज़ीना चढ़ जाना, तिनके के सहारे सागर पार करने से कम नहीं था। बाद में गाँधी के लिए रम्भा का दिया गया 'राम नाम' जीवन भर के लिए तिनके से तरणि बन गया। हालाँकि बाद में उसी राम नाम के कारण उन्हें हिंदू नेता होने का लाँछन भी वहन करना पड़ा जबकि गाँधी आरंभ में दो–एक बार विश्वनाथ मंदिर जाने के सिवाय कभी पूजापाठ के लिए मंदिर नहीं गये। या फिर बाद में हरिजनों को मंदिर में प्रवेश कराने के लिये गये थे। वह एक सामाजिक उद्देश्य था। जिसके लिए वे सम्पूर्ण ब्राह्मणिक परम्परा के खिलाफ़ अकेले लड़ रहे थे। गाँधी स्वयं जाति–बाहर व्यक्ति थे और जीवन भर जाति–बाहर ही रहे। उन्होंने कभी स्वयं जाति में पुनः प्रवेश का प्रयत्न नहीं किया। शायद इसीलिए गाँधी ने हरिजनों की स्थिति को अन्य सवर्ण नेताओं से ज़्यादा गहराई के साथ समझा था।

'गाँधी–हठ' पर अलग से एक पर्चा लिखा जा सकता है। उनका हठी स्वभाव भी कहीं न कहीं उनके अपने मानसिक अंतर्विरोधों से लड़ने में सहायक हुआ था। सामान्यतः मृदु व्यवहार और हठी स्वभाव साथ–साथ नहीं जाते। फिर भी गाँधी के संदर्भ में वे एक–दूसरे के पूरक थे। हठ जहाँ मानसिक तनाव पैदा करता है वहीं संघर्ष के जज़्बे को भी जन्म देता है। यह बात अलग है कि मनुष्य उसका उपयोग किस प्रकार करता है – सकारात्मक या नकारात्मक। गाँधी ने अपनी हठ और अपने अंतर्विरोधों का काफी हद तक सकारात्मक उपयोग किया।

यह एक विडम्बना है कि उनके राष्ट्रीय प्रेम, जातीय अभिमान और स्वतंत्रता के प्रति आग्रह को भी साधारण रूप से नहीं लिया जाता। एक विदुषी महिला ने मुझसे पूछा – ''गाँधी जाति के बनिये, स्वभाव से डरपोक, अपने को कामांध बताने वाले, फिर भी राष्ट्रीय एवं जातीय अभिमान और स्वतंत्रता जैसे उद्देश्यों के प्रति प्रतिबद्धता उनमें कहाँ से आई?'' इस सवाल का जवाब उतना आसान नहीं। उसके लिए ''कम्प्यूटर में मेमोरी स्केन' की तरह उनकी परम्परा व पृष्ठभूमि को खँगालने की ज़रूरत है। कोई भी व्यक्ति जिसका बचपन इतना पौरुष–विहीन हो वह स्वतंत्रता और अस्मिता का इतना बड़ा लड़ाकू कैसे हो सकता है? वह भी अहिंसा के ज़रिये। अगर यह सवाल उठता है और उसका शेष जीवन उसका प्रमाण नहीं बन सकता तो उसका जवाब देना एक अतिरिक्त ज़िम्मेदारी हो जाती है। हालाँकि गाँधी का सम्पूर्ण जीवन–व्यवहार इसका प्रमाण है।

मोहनदास गाँधी की तीन पीढ़ियाँ नौकरीपेशा थीं। उत्तमचंद उर्फ़ ओता गाँधी ने अपने बौद्धिक पराक्रम से पोरबंदर के राणा खीमो जी के राज्य में दीवानी का ओहदा हासिल किया था। 1831 में जब खीमो जी का स्वर्गवास हुआ तो उनका बेटा विकमात जी आठ वर्ष का था। विकमात जी की माँ रानी रूपालीबा राजकाज देखती थीं। एक मुँह–लगी दासी के भड़काने पर रानी ने अपने राज्य के भंडारी को मार डालने का हुक्म दे दिया। ओता गाँधी जानते थे कि वह ईमानदार और राज्य का भला चाहने वाला व्यक्ति है। उन्होंने पहले रानी रूपाली बा को समझाने की कोशिश की जब रानी नहीं मानी तो

उन्होंने भंडारी को चुपचाप राज्य से बाहर भेज दिया। रानी ने अपने सुरक्षा कर्मियों से ओता गाँधी का घर घिरवा लिया और पोरबंदर राज्य की सबसे बड़ी तोप से गोले दगवाये। ओता गाँधी का जाँबाज़ अंगरक्षक मकरानी उसमें काम आ गया। बमुश्किल तमाम गोरे एजेंट के हस्तक्षेप करने पर ओता गाँधी किसी तरह जान बचाकर वहाँ से निकल पाये। रानी ने उनका पुश्तैनी मकान सील करा दिया। लेकिन ओता गाँधी ने सच का साथ देना अपनी जान गँवाने से ज़्यादा ज़रूरी समझा। मोहनदास के जीवन में भी ऐसे कई अवसर आये जब उन्होंने जान के मुकाबले अपनी मान्यता को महत्त्व दिया। ओता गाँधी के जीवन की एक दूसरी घटना है जिसकी छाया मोहनदास गाँधी में नज़र आती है। जूनागढ़ के नवाब के बुलाने पर, दरबार में जाकर ओता गाँधी ने नवाब को बायें हाथ से सलाम किया। जब नवाब ने इस गुस्ताख़ी का कारण पूछा तो ओता गाँधी ने कहा मेरा दायाँ हाथ पोरबंदर राज्य के नाम मौरूसी है। यह ओता गाँधी के जातीय अभिमान या अपनी रियासत के प्रति प्रेम का प्रतीक है। दक्षिण अफ्रीका में पूरा संघर्ष भारत को सामने रखकर लड़ा गया था।

कर्मचंद उर्फ कबा गाँधी मोहनदास के पिता थे। लेकिन पिता–पुत्र के बीच विचित्र रिश्ता था, उन्होंने *आत्मकथा* में लिखा है : ''मेरे पिता कुटुंब से दूर रहते थे और इसी कारण अच्छा न्याय करते थे. . .वे राज्य के बड़े वफादार थे।'' एक सामंत की वफादारी आज के ज़माने में प्रतिक्रियावादी व्यवहार है। परंतु तब रियासतें छोटा–मोटा देश समझी जाती थीं और उनके प्रति निष्ठा अपने आप में एक मूल्य था। मोहनदास गाँधी ने कबा गाँधी के संदर्भ में एक और घटना का उल्लेख किया है जो कबा गाँधी को अपने पिता ओता गाँधी से भी जोड़ती है और मोहनदास गाँधी को उन दोनों से जोड़ती है। असिस्टेंट पोलिटिकल एजेंट ने राजकोट के ठाकौर से अपमानजनक शब्द कहे। कबा गाँधी राजकोट के दीवान थे। उन्होंने विरोध किया। साहब बिगड़े और कबा गाँधी से कहा ''माफी माँगो''। उन्होंने इंकार कर दिया। कबा गाँधी को अपने पिता की तरह तोप के गोले तो नहीं झेलने पड़े पर हवालात में रहना पड़ा। पर वे टस से मस नहीं हुए। साहब को मजबूर होकर कबा गाँधी को छोड़ देने का हुक्म

देना पड़ा। इस तरह की घटनायें तो गाँधी के जीवन में अनगिनत हैं। दक्षिण अफ्रीका तो इसका सबसे बड़ा उदाहरण और प्रमाण है।

तीसरा और सबसे अधिक प्रभाव पुतली बाई का था। पुतली बाई का पीहर प्रणामी सम्प्रदाय को मानने वाला था लेकिन उनकी शादी वैष्णव परिवार में हुई थी। मोहनदास अपनी बा को बहुत प्यार करते थे। लेकिन दो बातों में वे बा की बात का मौन विरोध करते थे। एक माँ के साथ मंदिर जाकर भी मंदिर के अंदर नहीं जाते थे। वहाँ गंदगी होती थी। दूसरे अपने मित्र उका के साथ बा के मना करने के बावजूद खेलते थे। उका दलित था। बा उन्हें बैठाकर पानी की बाल्टी उड़ेल देती थी। वे फिर उसके साथ खेलने चले जाते थे।

पुतली बाई बहू और बेटे को विवाह के बाद यानी मोहनदास और कस्तूरबा को प्रणामी मंदिर ले गई थी। वहाँ मूर्तियों की जगह दीवारों पर जो कुछ लिखा हुआ था वह कुरान की आयतों की तरह था। प्रणामी सम्प्रदाय हिंदू–मुसलमान आदि धर्मों का समन्वय है। पुतली बाई का नियम और धर्मपरायणता का भी एक उदाहरण गाँधी ने अपनी जीवनी में दिया है। एक बार उन्होंने चतुर्मास व्रत रखा था। बिना सूर्य दर्शन के वे भोजन नहीं करती थीं। बच्चे आसमान की तरफ देखते रहते थे। कब सूर्य निकले और कब माँ खाना खाये। जब सूर्य की झलक मिलती थी और बच्चे माँ को बुलाकर लाते थे। तब तक सूर्य बादलों में छिप जाता था। बा यह कहकर फिर अपने काम में लग जाती थी, ''कोई बात नहीं. . .जब निकलेगा तब सही। ईश्वर की जैसी इच्छा।'' पोरबंदर में चतुर्मास में चार–चार दिन सूर्य के दर्शन नहीं होते थे।

यदि विरासत और परम्परा में उस सम्मानित महिला के सवाल का जवाब खोजा जाये तो ये तीन घटनायें ही हैं जो उनके जातीय या राष्ट्रीय अभिमान तथा उनकी प्रतिबद्धताओं की पुष्टि करती हैं। वैसे विरासत ही सब कुछ नहीं होती विशिष्ट लोगों ने अपना रास्ता स्वयं बनाया है। विरासत का योगदान पर्वत के अंदर बहते सोते यानी अंतर्धारा की तरह होता है। यह पर्वत पर निर्भर करता है कि वह उस सोते को झरना बनने देता है या अंदर ही अंदर बहने देता है।

गाँधी ने सामान्य व्यक्ति की तरह गौरवपूर्ण परम्परा को यथावत

स्वीकार न करके उसका अपनी तरह अन्वेषण भी किया है। 11 मार्च 1914 को गाँधी ने अपने भतीजे मगनलाल गाँधी को एक पत्र लिखा था जिसका आशय था – अब तक जो सेवा या राजनीतिक गतिविधि हमारी (यानि गाँधी परिवार की) रही है वह बहुत निम्न कोटि की है। हमारा खानदान एक बदनाम खानदान है। सच पूछो तो हमारे ताल्लुक डकैतों के गिरोह से थे। अपने बुजुर्गों की अवमानना किये बिना मैं यह कह सकता हूँ कि उन लोगों के द्वारा जो भी सेवा का काम हुआ है वह एक संयोग ही था। उनके पीछे उनका अपना स्वार्थ था। *कलेक्टेड वर्क्स ऑफ गाँधी* में छपे एक अग्रलेख 27.170 में उन्होंने अपने उन पिता का भी मूल्यांकन किया है जिनकी वे श्रवण की तरह सेवा करते थे कि ''मैं तब भी जानता था और अब भी अच्छी तरह जानता हूँ कि मेरे पिता का सारा समय कपट–योग में व्यतीत होता था। सवेरे से चर्चा शुरू होती थी और जब तक वे दफ्तर जाते थे वह चर्चा चलती रहती थी। हर कोई उनके कान में फुसफुसा कर बात करता था।''

अगर हम इन अंतर्विरोधों को नकारात्मक ढँग से लेंगे तो अनगिनत दोष उभर कर सामने आयेंगे और अगर सकारात्मक व्याख्या करना चाहेंगे तो शायद हमें गाँधी अपने हालात और अपनी परम्परा से संघर्ष करते और अपना रास्ता अलग बनाते, अपनी कमियों और गुनाहों को स्वीकारते, एक इतर व्यक्ति नज़र आयेंगे। मुझे बशीर बद्र की गज़ल का एक शेर याद आता है :

''हम अपने जुर्म का इकरार कर लें,
बहुत दिन से यह हिम्मत कर रहे हैं।''

हिम्मत करते–करते भी हिम्मत नहीं कर पाते। गाँधी ने अपने समस्त अंतर्विरोधों के बावजूद अपने नगण्यता के बिंदु से अपनी कमियों और गलतियों को स्वीकार किया। स्वीकार ही नहीं किया उनके खिलाफ पूर्ण लामबंदी भी की। . . . और वह सब उनकी प्रयोगों की शृंखला का हिस्सा था।

अन्त में...

मैं हमेशा एक जुस्तजू में रहा हूँ कि दो महान व्यक्ति जिनका उद्देश्य एक ही बिन्दु पर पहुँचना हो वे भले ही दो दिशाओं से ध्येय की ओर बढ़ें, परस्पर विरोधी कैसे हो सकते हैं? अंतर अभिगमन (एप्रोच) में हो सकता है, परिकल्पना में हो सकता है पर क्या वृत्ति में भी होना चाहिए? गति में भी हो सकता है। यह भी संभव है कि कौन कहाँ से अपनी दौड़ शुरू करता है, उसमें दूरी हो।

अस्पृश्यता एक भौतिक विभीषिका थी जिसे हिन्दू ग्रथों की व्याख्याओं और ब्राह्मणीय मानसिकता ने धर्म से जोड़ दिया था। वह भारतीय जनमानस के लगभग पाँचवें हिस्से को मानसिक और सामाजिक रूप से संत्रस्त किए था। वह एक ऐसा जख्म था जो एक वर्ग को सदियों से पीड़ा पहुँचा रहा था और दूसरे वर्ग के लिए वह अहं तुष्टि थी। यानी वे अपने वर्चस्व के दम पर दूसरों के उस दर्द से सुख का अनुभव करते थे। जो अमानवीयता ही नहीं, हिंसा भी थी। गाँधी की लड़ाई या संघर्ष अस्पृश्यता के माध्यम से उन सवर्णों से थी जो इस पाप को सदियों से दूसरों पर थोपते आए थे। और भविष्य में थोपे रखना चाहते थे। वह आज भी है। न सही उतना, पर काफी हद तक कुछ जगहों में अस्पृश्यता आज भी आदिम रुप में है। यह सवर्णों के द्वारा थोपी गई है और इसकी गलन दूसरे धर्मों में भी पहुँच चुकी है। वे भी अस्पृश्यता को श्रेष्ठता का गुण मानकर चलते हैं। गाँधी ने पहली चोट अस्पृश्यता पर की। गाँधी ने कहा 'यदि हम भारत की आबादी के पाँचवें हिस्से को स्थायी गुलामी की हालत में रखना चाहते हैं, तो स्वराज एक अर्थहीन शब्द होगा।' (यंग इंडिया,

25 मई, 1921)। चेतावनी भी दी 'स्वराज के बाद की मस्ती में यह सुधार असंभव हो जाएगा।'

डॉ. अंबेदकर ने गाँधी के कथन के 10 वर्ष बाद कहा था 'हमें मंदिर प्रवेश के आन्दोलन में हिस्सा लेने के बजाए चातुर्वर्ण्य को समाप्त करने पर जोर देना आवश्यक लगता है। चातुर्वर्ण्य समाप्त हो जाएगा तो अस्पृश्यता अपने आप समाप्त हो जाएगी। परंतु सिर्फ अस्पृश्यता को मिटाने का प्रयत्न करेंगे तो चातुर्वर्ण्य व्यवस्था ज्यों की त्यों बनी रहेगी। हमारी राय में अस्पृश्यता चातुर्वर्ण्य का अंग है मूल पर कुठाराघात ही सुधार का सही मार्ग है। (जनता साप्ताहिक, 11 फरवरी 1933।)

यह बात मैं मूल पाठ में लिख चुका हूँ कि डॉ. अंबेदकर ने अस्पृश्यता का दंश अपने जीवन में सहा था। यह वह ज़माना था जब जाति न पूछो साधु की...मंत्र छिटक कर, जाति पूछो हर जात की हो गया था। वहाँ ज्ञान, सेवा, प्यार सब गौण हो गए थे। एक जमाना था जब नाम के साथ जाति कम लिखी जाती थी। ठाकुर पंडित, लाला आदि से सवर्णों का पता चल जाता था। लेकिन जो जाति या गोत्र आदि अपने नाम के आगे नहीं लिखते, उनकी जाति जानने की उत्सुकता आज भी लोगों में रहती है। मुझे याद है जब देश आजाद हुआ तो जिन स्कूलों आदि के नाम जाति सूचक थे, उत्तर प्रदेश में उन्हें बदलवा दिया गया था। पर कुछ संस्थाएं धर्म के नाम पर अभी भी स्थित हैं जैसे सनातन धर्म, आर्य समाज, क्रियश्चन, मुस्लिम या इस्लामिया, हिन्दू आदि। मैं यह बात इसलिए लिख रहा हूँ क्योंकि आजादी के बाद कुछ समय तक जातियों के प्रति सरकारों की दृष्टि में बदलाव आया था। यह संभवतः छुआछूत, जातिगत भेदभाव के विरोध के कारण हुआ था। अब हम फिर वहीं ज़्यादा शिद्दत से लौटे हैं। जातियों के संस्थापकों की जयन्तियाँ अधिक कट्टरता से मनाई जाने लगी हैं।

डॉ. अंबेदकर ने जाति प्रथा और वर्ण व्यवस्था का गहन अध्ययन किया था। उपरोक्त मत उन्होंने, 11 फरवरी 1931 को, उसी अध्ययन और व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर व्यक्त किया था। गणेश मंत्री

ने अपनी पुस्तक 'गाँधी और अंबेडकर' में लिखा है कि उच्च शिक्षा प्राप्त कर ऊंचे पदों पर आसीन होने के बावजूद पग पग पर सवर्ण मातहतों के हाथों अपमान सहना पड़ता था। शायद उस ज़माने में जातीय श्रेष्ठता का अहंकार इतना अधिक था कि पद और योग्यता उसके सामने छोटे पड़ जाते थे। मुझे स्मरण है कि कुछ रूढ़ि वादियों के पूर्वाग्रह इतने जटिल थे कि वे अंग्रेज अफ़सरों को झुककर सलाम करते थे पर घर आकर नहाते थे। उसमें मेरे अपने दादा भी थे। मैंने अपने उपन्यास 'लोग' में इसी तरह की एक घटना का उल्लेख किया है। स्वाभाविक है कि डॉ. अंबेदकर का सुचिंतित विचार था कि चतुर्वर्णीयता पर कुठाराघात किया जाना चाहिए छुआछूत उसी का एक प्रमेय है।

गाँधी बचपन से अपने घर में छुआछूत का खेल देख रहे थे। अपने सबसे पहले मित्र उका के साथ खेलने का विरोध अपनी बा द्वारा सहन कर रहे थे। एक बच्चे के लिए उसका मित्र कितना महत्त्व रखता है यह समझना क्या किसी के लिए कठिन है? मित्र का अपमान उसकी संवेदना को झकझोर कर रख देता है। बालक मोहनदास उस बा के सामने मुखर होकर विरोध भी कर चुका था जिसे वह सबसे ज़्यादा प्यार करता था। पहले भी बताया जा चुका है उसके इस सवाल का बा के पास कोई उत्तर नहीं था कि उका का क्या दोष है? बा यही कह पाई थी कि उका अच्छा बच्चा है पर यह धर्म का मामला है। उसके पास दो ही रास्ते थे वह उसके साथ खेलना बंद कर दे या खेलने की कीमत बा के द्वारा दिए जाने वाले दंड को चुपचाप बर्दाश्त करके चुकाए। जब वह खेल कर आता था तो गर्मी हो या सर्दी, बेटे को सबसे अधिक प्यार करने वाली बा, उसके ऊपर एक बाल्टी ठंडा पानी डालकर घर में प्रवेश करने देती थी। पूछने पर मोहनदास कभी यह नहीं कहता था कि वह उका के साथ नहीं खेला। हालाँकि उका उसे स्वयं समझाता था कि वह अपनी बा की बात माने, पर मोहन बचपन से जिद्दी भी था अपने निर्णय पर स्थिर रहने वाला भी। उसके मन पर दो प्रतिक्रयाएं हुईं। पहली यह, बा के साथ मंदिर जाता था पर उनके कहने के बावजूद मंदिर के अंदर प्रवेश नहीं करता था। यह संभवतः उस धर्म का

मौन विरोध था जिसके कारण उसकी प्यारी बा, उसके मित्र उका और मोहन के बीच आकर खड़ी हो गई थी। दूसरे, उसने धार्मिक कर्मकांड को लगभग अपने जीवन से निकाल दिया था। विश्वनाथ मंदिर जाकर वितृष्णा का अनुभव किया। कलकत्ता के काली मंदिर में जाकर वह धर्म विरक्त हुआ। लेकिन आस्था और धर्म के भौतिक पक्ष के अंतर को वे शायद बचपन में समझ गए थे और अस्पृश्यता के प्रति उनके विरोध की पृष्ठभूमि भी बन गई थी। छुआछूत गाँधी के अनुभव और अपमान का हिस्सा बन गया था। ठीक उसी तरह जैसे अंग्रेजों के प्रति विरोध बचपन में ही गाँधी के मनोविज्ञान का हिस्सा बन गया था। उसके लिए उस बालक ने अपनी वैष्णव मान्यताओं को दरकिनार करके अपने मुस्लिम मित्र के इस आश्वासन पर कि गोश्त खाने से अंग्रेजों को भगाने का दम आएगा, गोश्त खाना स्वीकार कर लिया था। साल भर तक जब कोई परिवर्तन नहीं आया और बा बापू से झूठ बोलने का अहसास गहरा होने लगा तो गोश्त खाना छोड़ दिया।

डॉ. अंबेदकर ने बचपन से दलित होने के कारण जिस दारुण अपमान को झेला, उनके उस अनुभव ने उन्हें हिन्दू आचार व्यवहार का विरोधी ही नहीं बनाया बल्कि वर्णव्यवस्था का गहन अध्ययन करने के लिए प्रेरित भी किया। गाँधी के लिए छुआछूत का उन्मूलन जितना महत्त्वपूर्ण हो गया था उनके लिए चतुर्वर्णीयता और जातिवाद चुनौती उतने ही जरूरी हो गए थे। वे पहले जातीय व्यवस्था और चतुर्वर्णीयता को, जो छुआछूत की जड़ थी, पर कुठाराघात करने के पक्ष में थे। एक कहावत है चोर को नहीं पहले चोर की माँ को मारो। गाँधी तब जातिवाद और वर्ण व्यवस्था के पक्ष में थे। इसी बात को लेकर दोनों के बीच पाले खिंच गए थे। डॉ. अंबेदकर का मानना था कि अस्पृश्यता हिन्दू समाज व्यवस्था का अभिन्न अंग है। बिना पूरी समाज व्यवस्था के आमूल चूल परिवर्तन के छुआछूत के इस अभिशाप को मिटाया नहीं जा सकता। गाँधी भी एक तरह से इस बात से सहमत थे। उन्होंने 13 फरवरी 1933 को हरिजन में लिखा था 'मेरी राय में हिन्दू धर्म में दिखाई पड़ने वाला अस्पृश्यता का वर्तमान रूप ईश्वर और मनुष्य के विरुद्ध किया गया भयंकर

अपराध है– और एक ऐसा विष है, जो हिन्दू धर्म को ही निःशेष किए दे रहा है।' पर सवर्णों के मन परिवर्तन के लिए, उनके कर्मकांड से विमुख होते हुए भी, हिन्दुओं की मूल्य मान्यताओं से जुडे रहना गाँधी की बाध्यता थी। डॉ. अंबेदकर को भी हिन्दू धर्म में रहना पड़ा जब तक उन्हें यह नहीं लगा अब धर्म बदलने का समय आ गया। उनके साथ लाखों हिन्दू दलितों ने भी बौद्ध धर्म अपनाया। दलितों में उस बिन्दु पर बँटवारा ठीक था या गलत यह बात सोचने की है। किसी धर्म से जाने वाले उसमें बने रहने वालों को दोषी मानते हैं और उसमें रहने वाले धर्म को छोड़कर जाने वालों को...। यह दलितों में भी रहा होगा।

गाँधी की स्थिति डॉ. अंबेदकर से भिन्न थी। सवर्ण समाज का हिस्सा होने के कारण उनके सामने दो प्रकार की चुनौतियाँ थीं। एक, हजारों वर्ष से जो वर्ग इस पूरे पाप का एन्जिन रहा है, क्या वह जाति व्यवस्था और वर्ण व्यवस्था को इतनी आसानी से बदलने देगा? दूसरी, यह संपूर्ण वर्ग, वर्ण और जाति के नाम पर एक जुट था। धर्म और कर्म से जोड़ दिए जाने के कारण क्षत्रिय, वैश्य यहाँ तक कि शूद्र कहलाने वाला एक वर्ग भी, मिले हुए थे। ब्राह्मण और पुरोहित, जिनका हर वर्ग में प्रवेश है, देव प्रकोप के नाम पर उन्हें जोड़े रखते हैं। यह एक मनोवैज्ञानिक और जटिल ग्रंथि है जिसे खोलना आसान नहीं था। गाँधी का मानना था कि हृदय परिवर्तन से ही रास्ता निकलना संभव है। डॉ. अंबेदकर तत्काल इस समस्या का समाधान कानून के द्वारा चाहते थे। उन्हें लगता था कि अंग्रेज़ अगर देश में बने रहे तो हो सकता है कानून से हल निकल आए। अंबेदकर यह भी जानते थे कि अंग्रेज सरकार दो शताब्दी से देश में राज्य कर रही है लेकिन छुआछूत और जातीय भेद– भाव को उन्होंने संभवतः जातिगत और सामाजिक भेदभाव मान कर यथास्थिति बनाए रखी, केवल कानून को समान रूप से सब पर लागू किया। सती प्रथा के बारे में कानून बनाने के बारे में अंग्रेज़ समझते थे कि इस संदर्भ में सवर्ण बटे हुए हैं। स्त्रियों के प्रति संवेदना का तत्त्व उनके साथ है।

अंग्रेज़ इतना चालाक था कि वह जानता था रजवाड़े, ज़मींदार, और अखाड़े सब सवर्ण हैं वे ऐसे मुद्दों पर कानून बनाने की पेशकश

का कभी समर्थन तो करेंगे ही नहीं, विरोध ज़रूर करेंगे। वाइसराय काउंसिल में भी ज़्यादातर वही लोग थे, शायद इसी कारण काउंसिल के सदस्य होते हुए डॉ. अम्बेदकर द्वारा, इस मुद्दे पर कानून बनाने का कोई प्रस्ताव उनके सामने नहीं रख पाए। यह सुझाव एक स्थिति में कामयाब हो सकता था यदि सवर्णों के अन्याय से पीड़ित समाज एक होकर आवाज़ उठाता। उस स्थिति में वे ताकतवर साबित हो सकते थे। सवर्ण भी कुछ न कर पाते। वह आज तक संभव नहीं हो पाया। डॉ. अंबेदकर का व्यक्तित्व ऐसा था जो इस समस्या को बौद्धिक स्तर पर उठाने के साथ, उसे जन समस्या भी बना सकता था। उनके तर्क भी अकाट्य थे और दलितों की समस्याओं के बारे में अन्तर्दृष्टि भी गहरी थी। जहाँ जहाँ वे अपनी भाषा के माध्यम से सीधे पहुँचे, वहाँ वहाँ उनका प्रभाव पड़ा। लेकिन जहाँ दलित और पिछड़े लोग अनपढ़ थे. या अंग्रेजी और मराठी नहीं समझते थे, वहाँ उनका संवाद नहीं पहुँचा। पहुँचा तो तीसरे पक्ष के द्वारा, उसे प्रभावी होने में देर लगी। जब हुआ तो उसमें डॉ. अंबेदकर का सोच और सरोकार कम था और दलों और व्यक्तियों के व्यक्तिगत हित ज़्यादा थे। वे सब लोग सत्ताकांक्षी बनकर उन दलों से जा मिले जो अंबेदकर का अब राजनीतिक इस्तेमाल करना चाहते हैं। इस प्रवृत्ति ने एक जुट होने के स्थान पर सबको फेंट दिया। दरअसल अंबेदकर का नाम लेकर उसका लाभ उठाने वाले ज़्यादा लोग हैं। जैसे गाँधी और लोहिया के नाम का लाभ कांग्रेस और अन्य राजनीतिक पार्टियाँ उठा रही हैं। अब तो गाँधी का नाम कुछ राजनीतिक दल अपमान जनक ढंग से इस्तेमाल करके भी लाभ उठाने में लगे हैं। वे पूछते हैं कि अगर गाँधी होते तो वे आई एस, या तालिबान को कैसे लेते? कोई कहता है गाँधी के द्वारा मुसलमानों के तलवे सहलाने के कारण देश का यह हाल हुआ है। साज़िशन उनको युवाओं में हिन्दू विरोधी के रुप में प्रचारित किया जा रहा है।

कांशीराम एक ऐसे व्यक्ति थे जो डॉ. अंबेदकर का अनुगमन गंभीरता से करते थे। पर वे जो चाहते थे कर नहीं पाए। अंत में वे भी सत्ता–व्यूह में उलझ गए या उलझा लिए गए।

डॉ. अंबेदकर के सचिव ने कादंबिनी में कुछ समय पूर्व लिखा था

कि अपने अंतिम दिनों में वे बहुत रोते थे और कहते थे कि वे जो चाहते थे कर नहीं पाए। ऐसे कुछ बिंदु उनके दिमाग में थे जिन्हें वे करना चाह कर भी नहीं कर पाए थे। वे क्या बिंदु थे? यह तो वे ही लोग बता सकते थे जो उनके निकट रहे थे। अवश्य ही वे चाहते होंगे कि दलित समाज एक जुट होकर अपने अधिकारों के लिए खड़ा हो। वे उनको अपने जीवन में ही सवर्णों के द्वारा किए जाने वाले अपमान से मुक्त देखना चाहते रहे होंगे। कहीं न कहीं गाँधी को भी अंबेदकर की तरह लगता था कि वे सत्ता के केंद्रीकरण को रोक नहीं पाए। ग्राम–सशक्तिकरण की परिकल्पना उनके रहते बिखर गई थी। कांग्रेस को समाप्त करके नई राजनीतिक पार्टी बनाने का विचार सत्ता पसंद वर्गों को स्वीकार्य नहीं हुआ। जब उन्होंने 1945 में नेहरू को लिखा कि हमें हिंद स्वराज और ग्राम–सशक्तिकरण पर काम करना चाहिए। मैं ऊपर बता चुका हूँ कि नेहरू ने लिखा था कि ग्राम तो स्वयं अंधियारे हैं वे देश को क्या प्रकाश देंगे। दोनों का रास्ता अलग हो गया। आज शायद वर्तमान प्रधानमंत्री भी ऐसा ही सोचते हैं कि गाँवों का बने रहना देश की अवनति का कारण है।

मुझे लगता है हमारे समय के ये दो महानायक अपने समाज के लिए सब कुछ करने के बाद भी जितना चाहते थे उतना न कर पाने के कारण असंतुष्ट ही संसार से गए। गाँधी तो अंत में कहने लगे वे अधिक जीना नहीं चाहते। यहाँ तक कहते थे अगर आवश्यकता हुई तो वे कांग्रेस सरकार के ख़लिाफ सत्याग्रह करने से नहीं चूकेंगे, किया भी था। सबसे बड़े दुःख की बात है उन दोनों के बाद जो लोग आए उन्होंने उस जिम्मेदारी को गंभीरता से नहीं लिया जिसे दो महानायक छोड़ गए थे। यह हमारी ज़िम्मेदारी थी कि उनके सपनों को पूरा करते। लेकिन हम सत्ता से मिलने वाले अवसरों की चाह में डूब गए। डॉ. अंबेदकर के जो सपने थे उनको गहराई से जानने की कोशिश तक नहीं की गई। गाँधी से किसी तरह की सलाह किए बिना ही उनके लोगों ने बँटवारा मंजूर कर लिया था, जिसका दोष संघ गाँधी के ऊपर आज भी डालता है। संघ और बीजेपी के प्रशिक्षित लड़के भी बेशर्मी के साथ कहते हैं कि गाँधी ने जिन्ना के सामने घुटने टेक दिए थे।

गाँधी ने क्योंकि हरिजन आंदोलन को जन से जोड़ दिया था इसलिए छुआछूत के इस दानव पर मध्यम वर्ग ने चोट की थी। लेकिन गाँवों में अभी भी' ठाकुर का कुआँ' है। गंदगी मानवीय स्तर पर ढोई जाती है। लेकिन एक बड़े दलित नेता ने बताया था कि हम लोग भले ही डॉ. अंबेदकर की दलितों के लिए अलग चुनाव क्षेत्र की मांग पर गाँधी के आमरण अनशन से नाराज हों, पर अब समझ में आता है कि गाँधी–अंबेदकर पैक्ट के तहत अधिक सीटें मिलने का यह लाभ हुआ कि हमारी आवाज में मजबूती भी आई, सरकारों की निर्णय की प्रक्रिया में हमारी हिस्सेदारी मज़बूत हुई। पाकिस्तान में हिन्दुओं को अलग चुनाव क्षेत्र मिलने पर भी निर्णय लेने की प्रक्रिया में उनकी किसी तरह की हिस्सेदारी नहीं है। उस पैक्ट में यह भी था कि उस दिन के बाद कोई भी व्यक्ति अछूत नहीं माना जाएगा। बाद में इस प्रावधान ने कानून का रूप भी ले लिया।

सांप्रदायिकता का सवाल

एक वर्ष पूर्व जब वर्तमान सरकार आई तो अव्यवस्था, सांप्रदायिकता विचारणीय और विवादित मुद्दा बनकर उठने लगे। इस बीच सत्ताधारी पार्टियों के सांसदों और हिन्दूवादी दलों तथा कट्टरवादी मुसलमानों ने इस सवाल को हवा देना आरंभ कर दिया। पहले भी सांप्रदायिकता बीच बीच में सिर उठाती थी। लेकिन एक वर्ष के अंदर यह सवाल सामान्य व्यक्ति और अल्पसंख्यकों के लिए चिंता का विषय बन गया। सत्ताधारी पार्टी के सांसद और नेता बराबर विवादित वक्तव्य देने लगे। मंत्री तक पीछे नहीं रहे। दिल्ली तक में गिरजों की तोड़–फोड़ हुई। प्रधानमंत्री तक ने पुलिस कमिश्नर को तलब करके उससे तोड़–फोड़ करने के दोषी व्यक्तियों को पकड़ने और सज़ा देने के निर्देश दिए। लेकिन अभी तक सब कुछ पूर्ववत् है। प्रधानमंत्री का आदेश हो उसका कोई फल न निकले यह चिन्ता की बात है। उ. प्र. में भी तीन शहरों में गिरजों के तोड़ फोड़ की घटनाएं घटी, पर कोई प्रभावी कदम वहाँ भी नहीं उठाए गए। लव जिहाद और घर वापसी जैसे मामले सामने आए। या तो सरकारें इन मामलों को सहज रूप में ले रही हैं या फिर यह ख़ुफिया तंत्र इतना शिथिल है

कि कुछ कर नहीं पाता।

लगभग प्रत्येक शहर में महिलाओं के साथ बलात्कार और उनकी अस्मत पर हमला रात दिन हो रहा है। ओवेसी जैसे व्यक्ति उत्तेजना उत्पन्न करने वाले भाषण देने से बाज़ नहीं आते। यही काम हिन्दू महासभा और केन्द्र सरकार में हिस्सेदार, शिव सेना कर रही है। पंजाब के उप–मुख्यमंत्री की बस एजेंसी औरबिट की बस में प्रतिदिन दुर्घटनाएं होती हैं। इस बार एक लड़की के साथ दुर्व्यवहार करके उसे और उसकी माँ को कंडक्टर और उसके साथियों द्वारा चलती बस से धक्का देने से, लड़की की मृत्यु हो गई और माँ अस्पताल में है। सरकार ने लगभग 30 लाख रुपया देकर समझौता कर लिया। अगर मुख्यमंत्री की बस न होती तो क्या इतनी बड़ी धनराशि देकर मामले को रफ़ा दफ़ा किया गया होता? पंजाब सरकार के शिक्षामंत्री का बयान था कि ऐसी घटनाएं रब की मर्जी से होती हैं। अकाली दल और बीजेपी केन्द्र और पंजाब सरकार में साझी हैं। केंद्र सरकार ने भी कोई सवाल नहीं उठाया, न कुछ बोली। पंजाब सरकार द्वारा दी गई धनराशि सामान्य रूप से दी जाने वाली सहायता से इतनी अधिक है कि घूस देने जैसा लगता है। अगर निर्धारित मुआवजे से अधिक धनराशि दी जाए तो वह जन–धन का दुरुपयोग है। इसीलिए दिल्ली में बस ड्राइवर की हत्या पर एक करोड़ की मांग है। दिल्ली सरकार ने बीस लाख में मामला निबटा लिया। मृत्यु का यह कैसा बाज़ार!

ऐसा क्यों हो रहा है? या तो पूर्व निर्धारित मानवीय परंपराओं में सरकारों, राजनीतिक दलों और जन की आस्था समाप्त हो गई या समाज और सरकारें नए मानक निर्धारित करने में असफल रहे हैं। संभवतः सरकार के लिए ऐसा करना ज़रूरी नहीं है। समाज विऋंखलताओं में उलझता जा रहा है। उसके सामने न आदर्श बचे हैं और न दिशा निर्देश। वर्तमान सत्ताधारी राजनीतिक दल सभी आदर्शों और संभावनाओं को बदल देना ही चाहते हैं, बल्कि उखाड़ फेंकना चाहते हैं। आजादी के दौरान गाँधी ने कुछ मूल्य बनाए थे। उनको उस समय के युवाओं और अनुभवी लोगों ने स्वीकार किया था। इसी तरह स्वामी रामकृष्ण परमहँस, विवेकानन्द और

आर्य समाज के संस्थापक दयानंद सरस्वती ने कुछ आदर्श कायम किए थे। अंतिम व्यक्ति गाँधी थे जिन्होंने परस्पर व्यवहार संबंधी एक आचरण संहिता बनाई थी। लोगों ने कुछ समय तक माना भी। लेकिन आज़ादी के बाद स्थितियाँ बदल गईं। आज सांप्रदायिकता के विरुद्ध कोई कहता है तो हिन्दूवादी सेक्यूलर शब्द को, उसके ख़लिाफ गाली की भांति इस्तेमाल करते हैं। अगर फ़ेसबुक पर देखें तो गाँधी को प्रायोजित ढंग से अपशब्द कहे और कहलाए जा रहे हैं। सब जानते हैं कि इस तरह की अनर्गल बातों से गाँधी की सार्वभौमिक प्रतिष्ठा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। खैर, सांप्रदायिकता के बारे में मैं हिन्द स्वराज से उनका कथन उद्धृत करना चाहता हूँ:—

'हिन्दुस्तान में चाहे जिस धर्म के आदमी रह सकते हैं, उससे वह एक राष्ट्र मिटने वाला नहीं है। जो नए लोग शामिल होते हैं, वे उसकी प्रजा को तोड़ नहीं सकते वे उसकी प्रजा में घुल मिल जाते हैं। अगर ऐसा हो तभी कोई मुल्क एक राष्ट्र माना जाएगा। अगर हिन्दू माने कि सारा हिन्दुस्तान सिर्फ़ हिन्दुओं से भरा होना चाहिए, तो यह निरा सपना है। मुसलमान अगर ऐसा मानें उसमें सिर्फ़ मुसलमान रहें तो उसे सपना ही समझिए। फिर भी हिन्दू, मुसलमान, पारसी, ईसाई जो इस देश को अपना वतन मान चुके हैं, एक देशी, एक मुल्की हैं, वे देशी भाई हैं। उन्हें एक दूसरे के हित के लिए भी एक होकर रहना पड़ेगा।' (हिंद स्वराज, पृ. 102—103, संस्करण, सितंबर 2009, नवजीवन प्रकाशन)। उनका संकेत है कि एक धर्म संपूर्ण राष्ट्र नहीं बना सकता। आज छोटे या बड़े देशों में विविध धर्मों के लोग बसे हुए हैं। मुस्लिम देश आपस में बंटकर ही विविधता बना रहे हैं, यही कारण है कि खूँरेजी बढ़ती जा रही है।

उपरोक्त उद्धरण में 'नए लोग' का मतलब केवल बाहर से आने वाले लोग ही नहीं है, बल्कि वे लोग भी हैं जो रहते यहीं हैं नए राजनीतिक इरादों, विचारों और संकल्पों के माध्यम से बांटना चाहते हैं। वे भी देश की हजारों साल की परंपरा को तोड़ नहीं सकते। माओवादी, कट्टरवादी, ओवेसी जैसे लोग तो जो करते हैं वे तो करते ही हैं, सांसद और मंत्री होकर गैर जिम्मेदाराना बातें करके धर्म और जाति के नाम पर देश बांट रहे हैं। वे लगभग अड़सठ वर्ष

में कितने सफल हो पाए? उन्होंने साधु–संतों की परंपरा को नकार कर राम मंदिर के नाम पर एक ऐसी परंपरा बनाई जो न कबीर से मेल खाती है, न रैदास और अन्य समकालीन संतों की परंपरा से जुड़ती है। पहले आस्था और धर्म एक थे अब कर्मकांड और आस्था के नाम पर अनास्था की प्रमुखता है। धर्म के साथ न त्याग है और न विश्वास। धर्म सत्ता का गलियारा बन गया। यह कमोबेश सभी धर्मों पर लागू होता है। इस समय अगर सरकार का कोई विदेशी ख़ैरख्वाह भी सलाह देता है कि भारत में आर्थिक उन्नति के लिए परस्पर समन्वय और एकता का होना आवश्यक है तो कट्टरपंथी नाराज होकर अपशब्द का प्रयोग करने लगते हैं। ओबामा ने भारत की यात्रा समाप्ति से पूर्व यह सलाह दी थी तो उस पर कट्टरवादियों की तीखी प्रतिक्रिया हुई थी। भले ही वर्तमान सत्ताधारी दल नेहरू को नए नए अपशब्दों से संबोधित करते हैं। लेकिन भारत की प्रतिष्ठा संसार में धर्म निरपेक्ष छवि के कारण ही बनी थी। भले ही प्रधानमंत्री अल्पसंख्यकों के प्रति अन्याय होने पर देश में कुछ न कहें पर बाहर जाकर वे भी 'सबका साथ' की बात करके धर्म निर्पेक्षता का दिग्दर्शन करते हैं। उससे उनको अपनी बात आगे बढ़ाने में सहायता मिलती है। पिछली बार टाइम मैगजीन को दिए गए साक्षात्कार में भी यही कहा था।

देश लगभग एक हजार वर्ष के कालखंड के दौरान सांस्कृतिक, साहित्य और सामाजिक समन्वय के आधार पर एक ऐसे बिन्दु पर पहुँच चुका है जहाँ से लौटना असंभव है। आर्थिक और सांस्कृतिक दृष्टि से मत भेद भले ही रहे हों पर टूट फूट नहीं थी। अब टूट फूट समाज का ताना बाना तोड़ देगी। बावजूद इन घृणित प्रयत्नों के लोगों के दिल जुड़े हैं। संसार में एकल धर्म की कोठरी कहीं नहीं बची। इस्लाम के नाम पर जहाँ जरा से खतरे की बात सबको एक जुट कर देती थी आज उसके कितने टुकड़े हो गए। भारत में अभी लगाव बचा है। ताज्जुब की बात है सरकार दूसरे देशों से निवेश के लिए दूर दूर भटक रही है लेकिन अपने पड़ौस में बसने वाले व्यक्ति को विदेशी करार दे रही है। क्यों? आप भले ही बाहर के देशों से कारूँ का खजाना निवेशित करा लें, आपस में बँटा हुआ देश उसका

लाभ कितना उठा पाएगा? यह कट्टरपंथियों को भी समझना होगा। घर में पनपने वाली घृणा बड़े से बड़े धनाड्य परिवार को बरबाद कर देती है। हिन्दू महासभा और अन्य हिन्दूवादी संगठन घर वापसी कार्यक्रम के अंतर्गत घर में लोगों को वापिस लाते हैं लेकिन जब नए घर के लोग उनकी उपेक्षा करते हैं तो वे पहले वाले घर लौट जाते हैं। हिन्दुओं का हाज़मा कमजोर है पहले जब वे गए होंगे तब भी सवर्णों और जाति धर्म के ठेकेदारों द्वारा, उनकी किसी गलती को न पचाने के कारण ही गए होंगे, अपने लोगों को कौन छोड़ता है? अब उन्हें दशकों और सदियों बाद घर वापिस लाएं भी तो हाज़मा ठीक किए बिना पचाना संभव नहीं होगा। ठीक हाज़मे का मतलब सहिष्णुता और भाईचारा है।

देश की महिलाएं

उन्हें तब भी अल्प संख्यक का दर्जा दिया जाता था जब वे पुरुषों से संख्या में अधिक थीं। अब तो वाकई उनका प्रतिशत पुरुषों से कम होता जा रहा है। संख्या कम होने का पहला कारण तो भ्रूण हत्या ही है। हम हिन्दू भ्रूण हत्या को पाप समझते हैं। पर सब से ज्यादा भ्रूण हत्याएं हिन्दुओं में होती हैं। जबकि कानूनन जुर्म है। यह जुर्म तो हत्या से भी अधिक बड़ा जुर्म होना चाहिए क्योंकि बच्ची को दुनिया में आने से पहले ही परलोक भेज दिया जाता है। न हम ध र्म के स्तर पर इसका विरोध कर पाते हैं और न कानून के स्तर पर। महिलाएं इसके लिए अधिक ज़िम्मेदार ठहराई जाती हैं। बेटी को जन्म देने वाली माँ का सबसे अधिक अपमान महिलाएं करती हैं। इतना मनोवैज्ञानिक दबाव बना देती हैं कि गर्भवती महिला के पास घुटते जाने के अलावा कोई विकल्प नहीं रहता। पता चलने पर कि गर्भ में बेटी है, पति भी या तो तटस्थ हो जाता है या घर वालों के साथ मिल जाता है। कुछ महिलाएं अपने रूप रंग को बरकरार रखने के कारण स्वयं बच्चे को जन्म देना नहीं चाहतीं।

दूसरी बात है पुरुष प्रधान समाज में स्त्री दोयम दर्जे की नागरिक है। वे भी जो परम आधुनिक हैं, और वे तो हैं ही जो सामान्य परिवारों से आती हैं। आजकल एक विवाद चालू है कि पत्नी की बिना

मर्जी के उसके साथ पति को जबरदस्ती करना चाहिए या नहीं। अधिकतर पुरुषों का मत है कि विवाह के बाद पति को सेक्स का अधिकार प्राप्त हो जाता है। इसलिए पति का पत्नी के साथ ज़बरदस्ती करना बलात्कार की श्रेणी में नहीं आता। यह तर्क अजीब है। मैंने बहुत पहले सुना था कि एक पिता ने बेटी के साथ बदसलूकी की, तो पिता के वकील ने अदालत में तर्क दिया कि हमने पैदा किया, पाला पोसा तो हमारा उस पर पूरा अधिकार है। यह तर्क नहीं माना गया और पिता को सजा हो गई। इस तर्क से तो पति का पत्नी पर भी मौरूसीगत अधिकार नहीं है। केवल शादी हुई, शादी एक सामाजिक अनुबंध है। वह तभी तक अनुबंध है जब उसका दोनो पक्षों में से किसी के द्वारा उल्लंघन नहीं होता। शर्तें मौखिक रूप से पुरोहित बोलता है पति पत्नी दोहराते हैं। यानी पूरे समाज के सामने वे बाबुलन्द आवाज स्वीकार करते हैं।

बलात्कार आज हर समाज में शिद्दत से बढ़ रहा है। छोटी छोटी बच्चियाँ भी पुरुष की हविस पर बलि चढ़ रही हैं। बलात्कार के बाद उनकी हत्याएं भी कर दी जाती हैं। ये क्या इसलिए कि वे कमज़ोर वर्ग में मानी जाती हैं। बच्चियाँ तो कमज़ोर होती ही हैं। उनके साथ जब यह हैवानियत का काम होता है तो उनकी दुनिया बदल जाती है। जीवन भर के लिए पुरुष उनके लिए हैवान बन जाता है, मर्दों की दुनिया है, भले ही कुछ न कहे पर अंदर ही अंदर वह डर से मर मर कर जीती है। वैवाहिक जीवन का सुख क्या होता है शायद ही ऐसी अभिशप्त महिलाओं का उससे कोई परिचय होता हो। जो लोग मुश्किलों में जीते हैं वे या तो वे कमज़ोर दर कमज़ोर होते जाते हैं या फिर मजबूत होना सीख लेते हैं। मैं कई बार सोचता हूँ कि महिलाएं इतना उत्पीड़ित होने के बाद मजबूत क्यों नहीं होतीं? माता पिता और समाज उनको सिखाता है कि औरत तो सहनशीलता की मूर्ति है। सहनशीलता दो तरह की होती है एक नकरात्मक कार्यों के प्रति सहनशीलता। वह कायरता है। गाँधी जी ने कहा है कायरता से अच्छी हिंसा है। दूसरी सहनशीलता है सकारात्मक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए, कठिनाइयाँ सहन की जाती है। वह सद–उद्देशीय सहनशीलता कहलाती है। यही दलित वर्ग के साथ हुआ हजारों साल

से वे अत्याचार सहते आ रहे हैं। उनके अंदर मजबूती नहीं आई, सवर्णों पर आर्थिक निर्भरता ने उन्हें मजबूत नहीं बनने दिया। कई स्थानों पर आज भी झेल रहे हैं। लेकिन आज़ादी के बाद कानून ने सुरक्षा दी। उसका सब लाभ भी नहीं उठा पाते। कानूनन महिलाओं को पिता की जायदाद में भाइयों के बराबर का हिस्सा दिया गया है पर माता पिता आज भी भेद भाव करते हैं। लड़कियाँ अपना अधिकार नहीं मांगतीं क्योंकि बहन का भाई के बराबर हिस्सा मांगना समाज में अच्छी नज़र से आज भी नहीं देखा जाता। यह नकारात्मक सहनशीलता है। माँ बाप को अन्याय का अधिकार लड़कियाँ ही देती हैं। गाँधी ने दक्षिण अफ़्रीका में कस्तूरबा और अन्य महिलाओं को स्त्रियों की अस्मिता पर आक्रमण करने वाले कानून का विरोध करने के लिए सत्याग्रह करके जेल जाने को प्रोत्साहित किया था। वे खुशी खुशी गईं बाद में भारत आने पर आजादी की लड़ाई में महिलाओं ने बराबर की हिस्सेदारी की।

सुरक्षा के लिए सरकारों पर निर्भर करना समाज को भी और व्यक्ति को भी कमज़ोर बनाता है। क्योंकि कोई भी सरकार नहीं चाहती कि जनता आत्म निर्भर बने। सरकारें आधा छाँव में आधा धूप में, आधा ना में उलझाए रखती हैं। दिल्ली में एक महिला और पुलिस दीवान की संभवतः 10 या 11 मई 2015 को, चालान को लेकर बतकही हो गई। बात यहाँ तक पहुँच गई कि पुलिस दीवान ने उसकी स्कूटी तोड़ दी और महिला ने अपना संघर्ष जारी रखा दीवान ने गुस्सा होकर पत्थर मार दिया। महिला ने भी पत्थर मारा। यह आरोप है कि महिला ने उसे ऐसा करने के लिए उत्तेजित किया। वह महिला चालान की राशि उसे देकर चली जाती पर उसने ऐसा नहीं किया। वह अपनी समझ के अनुसार अपने अधिकार की रक्षा कर रही थी। दीवान को तत्काल बर्खास्त कर दिया गया। अब हाईकोर्ट में मुकदमा है।

भारत के किसान

यह समय हमारी मूल कृषि संस्कृति के लिए परीक्षा का काल है। हमने और हमारे पूर्वजों ने जब आँखें खोलीं तब धरती से ही सबसे

गहरा रिश्ता था। लेकिन अब हमारा वह आधार छूट रहा है। हमारी सरकारें जमीन के साथ जीने और मरने की संस्कृति की जगह एक ऐसी संस्कृति लाने की जुस्तजू में हैं जो हमारी जड़ों से नहीं जुड़ती। जिसे गाँधी ने पाश्चात्य सभ्यता कहा है। नेहरू भी इसी सभ्यता के समर्थक थे। उनका विकास चूँकि राष्ट्रीय और स्वदेशी आन्दोलनों के साथ हुआ था इसलिए वे इस पाश्चात्य सभ्यता के लिए खुलकर सामने नहीं आए। लेकिन जैसा कि मैंने पहले भी उल्लेख किया है कि 1945 में गाँधी ने जब बहुत आशा के साथ प्रधानमंत्री नेहरू को लिखा कि हमें गाँवों के सशक्तिकरण के लिए काम करना चाहिए तो उनका उत्तर था कि गाँव स्वयं अंधियारे हैं वे भारत को क्या रोशनी देंगे। गाँधी और नेहरू के रास्ते अलग अलग हो गए। सरकार मेक इन इंडिया के नाम पर भूमि को किसानों से छीनकर उद्योगों और बिल्डर्स को देकर एक पंच सितारा संस्कृति लाने की तरफ बढ़ रही है। उससे लगता है गाँधी का सपना कुछ नेहरू ने तोड़ा था, बचा खुचा अब वर्तमान सरकार तोड़ देगी।

13 मार्च 2015 को साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली द्वारा आयोजित साहित्योत्सव में कन्नड़ के शीर्षस्थ लेखक भैरप्पा जी से इस विषय पर बातचीत हुई तो मैं उनके विचार सुनकर चकित रह गया। उनका कहना था कि मैं यूरोप और विश्व का चप्पा चप्पा घूमा हूँ। उन देशों ने जितनी उन्नति की है वह हम क्यों नहीं कर पाए? क्योंकि हम में कल्पनाशीलता नहीं थी, अपने को बदलने का उत्साह नहीं था। किसान अगर विकास के लिए भूमि नहीं देना चाहता तो वर्तमान अध्यादेश के सिवाय दूसरा रास्ता नहीं है। सड़कें बनेंगी, अस्पताल बनेंगे, लोगों को मकान मिलेंगे, स्वच्छता आएगी। स्मार्ट सिटी बसेंगे। फैक्ट्रीज़ लगेंगी। पहली बार एक स्वप्न दृष्टा प्रधान मंत्री देश को मिला है जो देश को विश्व के सर्वोत्तम देशों की श्रेणी में ले जाना चाहता है। संकीर्ण मानसिकता के विरोधी दल नहीं चाहते कि देश को बदलने का श्रेय उनको मिले। मैंने पूछा अगर हिन्दूस्तान भी यूरोप हो जाएगा तो हिन्दुस्तान कहाँ रहेगा। वे बोले कि तुम देशवासियों के लिए अच्छी जिंदगी चाहते हो या यह सड़ा गला हिन्दुस्तान? मैंने बहुत सहजता के साथ कहा कि

क्षमा कीजिए भैरप्पा जी, न हिन्दुस्तान योरुप हो सकता है और न योरुप हिन्दुस्तान। मोदी जी अगर मूल कृषि संस्कृति को ख़त्म कर देंगे तो उसकी जगह कौनसी संस्कृति लाएंगे? संस्कृतियाँ विकसित होने में सदियाँ लग जाती हैं, पीढ़ियाँ काम आ जाती हैं। बीज बोए जाने के लोकगीत, खलिहान उठाने के दृष्य, बड़े बड़े चरागाहों में जानवर चराने वाले ग्वाले यह सब कहाँ मिलेगा। हर मौसम के बदलने पर, हर प्रदेश में जो कृषक त्यौहार मनाते हैं, नाचते गाते हैं, वे सब भी समाप्त हो जाएंगे। अभी सिंथेटिक दूध बह रहा है। फिर तो दूध और दुधारू जानवर रहेंगे ही नहीं। डेयरियों में मिलेंगे। जिस तरफ चर्चा चल रही थी शायद उनको अच्छा नहीं लगा। वे उठ गए। साहित्य अकादेमी के उपाध्यक्ष भी कर्नाटक के हैं, श्री चंद्रशेखर कंबार वहाँ के बड़े नाटक कार, उनके जाने के बाद बोले कि खेती नहीं तो भारत क्या मतलब। लेखकों की संवेदनाएं भी अच्छे दिन आने वाले नारे के साथ किस तरह बदल रही थीं यह देखकर अचंभित रह गया। गोदान जैसे उपन्यास लोगों की कल्पना से बाहर चले जाएंगे।

मैं नहीं कह सकता कि सर्प वंश के संहार की तरह कुछ होगा या नहीं। लेकिन उस सर्प संहार से भी एक सर्प बच निकला था जिसने पुनः अपने वंश की पुनर्स्थापना की थी। किसान अन्न के एक दाने के सौ दाने उगाता है तो क्या वह अपने वंश और संस्कृति को फिर पुनर्जाग्रत नहीं कर सकता। उसे क्या चाहिए, भूमि और हर प्राणी का पेट भरने का संकल्प।

दलित विमर्श... 2003 में छपा था। इन बारह वर्षों में बहुत कुछ बदला है। कुछ समस्याओं का उल्लेख करना मुझे आवश्यक लगा। महिलाओं की समस्याएं हों या किसानों की या सांप्रदायिकता की ये आपस में संबंधी हैं, इसलिए इनका उल्लेख इस पुस्तक को समृद्ध करेगा, ऐसा मैं सोचता हूँ।